

शंकर की ओर एकटकी लगाकर देखने लगे। कुछ समय ऐसे ही बीत गया। अन्त में शंकर ने कहा, “पृथ्वीधर जी! माताजी को बुला लाइये।”

अन्दर जाकर समाचार दिया गया तो उभय भारती जी बाहर आयीं। शंकर ने कहा, “माताजी! मुझे एक महीने का समय दीजिये। आपके प्रश्न का उत्तर दे दूँगा।”

“ऐसा ही हो।”

“पृथ्वीधर, पद्मपाद, आओ चलें”, और शंकर उनके साथ चल पड़े।

मण्डन को, जो कि भीतर थे, धीरे-धीरे अपने शिष्यों द्वारा सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। वे बोले,

“भारती! यह तुमने क्या किया?”

“वह बालक आपको मेरे से छीन कर ले जा रहा था। मैं क्या चुपचाप बैठी देखती रहती? एक मास का समय माँग कर गया है। देखते हैं आने पर क्या होगा।”

× × ×

दोनों शिष्यों के साथ शंकर जी चले जा रहे थे। वे अनुमान नहीं लगा पा रहे थे कि गुरु जी आगे क्या करेंगे। उनको आभास ही नहीं रहा कि उनके शरीर में चेतनता भी है या नहीं। वे आपस में कोई बातचीत नहीं कर रहे थे। मार्ग में आये किसी मन्दिर या वृक्ष के नीचे कुछ देर बैठने और फिर आगे बढ़ने के अलावा और कोई व्यवहार नहीं करते थे। उन्हें नहीं पता था कि वे कहाँ जा रहे हैं। दो-तीन दिन ऐसे ही बीत गये। एक दिन वे एक पर्वत की घाटी में से होकर गुजर रहे थे कि एकाएक शंकर जी रुके और बोले, “पद्मपाद, वह क्या आवाज है? सुनो” दोनों शिष्य सावधान होकर सुनने लगे।

“हाँ, हाँ। कोई रोने की आवाज है। लगता है कई लोग हैं।”

“मैं यहीं बैठता हूँ। देखकर आओ।”

“पद्मपाद जी आप देखकर आइये। मैं गुरुजी के पास, रुकता हूँ”, पृथ्वीधर ने कहा।

पद्मपाद गये और लौटकर आकर बोले, “अमरूक नाम का राजा परिवारसहित शिकार के लिये आया था। शिकार के बाद लौटते समय उनके सिर में चक्कर आया और वह गिर पड़े। जाँच करने पर मालूम हुआ कि वह मर चुके हैं। परिवार में 25-30 लोग हैं, सभी रो रहे हैं।”

“राजा की आयु कितनी होगी?”, शंकर जी ने पूछा।

“लगभग पैंतालीस साल।”

“उसे मरे हुये कितना समय हो गया?”

“लगभग एक घण्टा हुआ होगा।”

कुछ पल के लिये शंकर गहरी सोच में पड़ गये। पर्वतप्रदेश की ओर देखते हुये उन्होंने कहा, “देखकर आओ ऊपर कोई एकान्त स्थल है क्या जिसके पास पानी की सुविधा भी हो। जल्दी देखकर आओ।”

वे देखकर आये और बोले,

“एक उपयुक्त गुफा है जिसके पास झरना भी बह रहा है। वह रहने लायक है।”

तुरन्त पर्वत चढ़कर तीनों वहाँ पहुँचे। शंकर ने स्थल का परीक्षण किया और गंभीर स्वयं में पूछा,

“मैं आप दोनों पर एक महान् दायित्व डालना चाहता हूँ; क्या आपको स्वीकार है?”

“गुरु जी! आप जैसा कहेंगे हम वैसा ही करेंगे।”

“मैं अब उस राजा के शरीर में प्रवेश करूँगा। कुछ दिन बाद वापिस आऊँगा। तब तक इस देह की रक्षा करना आप दोनों की जिम्मेवारी है। ठीक है?”

दोनों शिष्य मूक बने खड़े रहे। पद्मपाद ने केवल “ओह!” कहा।

“ओह से क्या मतलब है? क्या आप पूछना चाहते हैं कि यह हो सकता है या नहीं?”

“हो सकता है मैं जानता हूँ। मत्स्येन्द्रनाथ ने यह किया था।”

“फिर क्या?”

“नये शरीर में व्यामोह हो जाने से वे उसी में बने रहे। उनको वापिस लाने के लिये उनके शिष्य गोरखनाथ जी को बहुत श्रम करना पड़ा।”

“यदि ऐसा हुआ तो मुझे वापिस लाने के लिये आप लोग तो हैं न?”

“गुरु जी क्षमा करें। उस समय तक यहाँ आपके शरीर पर कोई विपत्ति आ गयी तो?”

“वह आप दोनों की जिम्मेवारी नहीं है। उसका ध्यान मैं ही रखूँगा।”

“गुरु जी! मेरे प्रश्न की घृष्टता को क्षमा कीजिये। क्या संन्यासी के लिये परकाया में प्रवेश करना पाप नहीं है?”

“वहाँ संसार करने वाला गृहस्थ है या संन्यासी?”

“गृहस्थ होने पर भी उसका मन तो संन्यासी का ही है न?”

“स्वप्नकाल में शरीर से अलग होने पर क्या जीव को पाप-पुण्य होता है? तुम्हें बृहदारण्यक का मन्त्र याद है या नहीं?”

“इतना जोखिम किसलिये उठाना?”

“मण्डन को पाने के लिये।”

“वह नहीं मिलेंगे तो क्या होगा?”

“वह आपके मतलब की बात नहीं है।”

कुछ देर मौन रहा। फिर शंकर बोले, “और कोई प्रश्न बाकी है क्या?”

“नहीं”

“क्या तुम यह दायित्व उठाने के लिये तैयार हो?”

“तैयार हूँ। मैं भूल गया था कि आप कौन हैं तभी मैंने बिना सोचे-समझे यह सब कहा। उद्वेग में मैंने जो कुछ कहा कृपया उसे क्षमा कीजिये और पहले की तरह अपना अनुग्रह बनाये रखिये।” ऐसा कहकर उन्होंने शंकर जी को दीर्घ दण्डवत् प्रमाण किया।

पद्मपाद ने गुफा में शंकर जी का कम्बल बिछाकर, उसके ऊपर उनका ऊपरी वस्त्र फैला दिया। लेकिन पद्मपाद ने जैसा सोचा था शंकर जी उसपर लेटे नहीं बल्कि पद्यासन में बैठ गये। प्राणायाम करके उन्होंने सूक्ष्मशरीर के एक अंश को देह में ही छोड़ दिया और अन्य अंशों के साथ ब्रह्मरन्ध्र द्वारा

निकलकर वह राजा की देह में उसके ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रविष्ट हो गये। राजा में प्राण का संचार हो आया। आँखें खुल गयीं। राजा का परिवार खुशी से चिल्ला पड़ा। राजा ने कहा,

“सिर में चक्कर आने से मैं गिर पड़ा था। मुझे कुछ नहीं हुआ है। चलो चलें।” परिवार के सदस्यों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। सब राजा के साथ राजमहल लौट आये।

राजा अब राज्य का कार्य असाधारण कुशलता के साथ निभाने लगे। समस्याओं के उठने पर राजा के समाधान उनके मन्त्री परिषद से अधिक श्रेष्ठतर होते थे। वे तीनों पत्नियों में समान प्रेम रखते थे। जल्दी-जल्दी में ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक भी कर दिया गया। यह सब देखकर छोटी रानी कनकर्मजरी और मुख्यमन्त्री को संतोष की अपेक्षा आश्चर्य अधिक हुआ। कुछ दिन में आश्चर्य के स्थान पर सन्देह होने लगा। ‘मरा हुआ फिर जीवित हो सकता है क्या?’ उन्होंने आपस में गुप्त मन्त्रणा शुरू करी। अन्त में उन्होंने निर्णय लिया, ‘चाहे कुछ भी हो इस राजा की रक्षा अवश्य करनी चाहिये। गुप्तचरों को सन्देश भेजे गये। तीन-चार दिनों में उनसे सूचनाएँ-प्राप्त हुयीं। उनके आधार पर गुप्तचरों को आवश्यक कार्यवाही करने का आदेश दे दिया गया। गुप्तचर उसे कार्यान्वित करने की दिशा में जुट गये।

इस बीच पहाड़ की गुफा में पद्मपाद और पृथ्वीधर शंकर जी के शरीर पर पहरा दे रहे थे। दोपहर में जब एक शिष्य भिक्षा के लिये जाता तो दूसरा शरीर का ध्यान रखता था। गाँव वहाँ से दूर था। भिक्षा लाना ही उनका मुख्य कार्य था। भिक्षा लाने के बाद दोनों का भोजन प्रतिदिन दोपहर को प्रायः तीन बजे होता था।

इस गुफा की एक ओर झाड़ी के पीछे धीमे स्वर में यह बातचीत चल रही थी,

“क्या करें, दोनों में से एक न एक तो हमेशा रहता ही है?”

“आज पहलवान रुका हुआ है। भिक्षा लाने पतला वाला गया है।”

“एक सप्ताह से प्रतीक्षा कर रहे हैं परन्तु कोई मौका ही नहीं मिल रहा है।”

“मौका मिलने पर भी हम क्या कर सकते हैं? गुरु जी ध्यान में बैठे हैं। उनको देखकर मैं काँप उठता हूँ।”

“बहुत दिन से बैठे हैं। शायद समाधि में हैं। शरीर अचेतन है। हम अपना काम पूरा करके भाग जायेंगे।”

उस दिन भिक्षा लाने की बारी पृथ्वीधर की थी। वे अभी तक लौटे नहीं थे। प्रतीक्षा करते-करते पद्मपाद थक गये और गुफा से बाहर आ गये। वे 25-30 कदम नीचे उतरे और और एक मोड़ पर पृथ्वीधर की प्रतीक्षा में आकर खड़े हो गये। कुछ समय बाद वह वहीं एक चट्टान पर बैठ गये।

“पहलवान उतरकर नीचे चला गया है। आओ यही सही मौका है। कार्य को जल्दी पूरा करना चाहिये।”

एक के हाथ में अग्नियुक्त मटकी थी और दूसरे के हाथ में एक थैली जिसमें तेल में भीगा कपड़ा था। दोनों ने चुपचाप गुफा में प्रवेश किया। उन्होंने तेल से भीगा कपड़ा शंकर के शरीर को उड़ा दिया। फिर फूंक मार कर अग्नि को हवा दी। एक छोटी ज्वाला आने पर उस पर कर्पूर का एक बड़ा टुकड़ा डाल दिया। क्षणमात्र में ही धधकती हुयी ज्वालाएँ उठने लगीं। कपड़े को आग लगाकर दोनों भाग गये।

उधर शिला पर बैठे पद्मपाद गहरी चिन्ता में थे। समयावधि पूरी होने में केवल पाँच दिन बाकी थे और गुरु जी अभी तक वापिस नहीं आये थे। अवधि समाप्त होने के बाद कोई लाभ नहीं। अगर मण्डन जी की पत्नी ने “अवधि समाप्त हो गयी है, चले जाओ”, ऐसा कह दिया तो गुरु जी क्या करेंगे? गुरु जी एक साहस करने गये और किस आपत्ति में फंस गये यह कौन कह सकता है? पता नहीं हम उन्हें दुबारा देखेंगे भी या नहीं। कितने दिन तक शरीर की रक्षा की जा सकती है? ऐसा सोचते हुये उन्होंने दूर से पृथ्वीधर को आते हुये देखा। पास आते ही पृथ्वीधर बोले, “यह जलने की गन्ध कैसी है?”

“हाँ। हाँ। पता नहीं किस चीज की है।”

“गुफा छोड़े हुये आपको कितना समय हो गया है?”

“लगभग दस मिनट।”

“जल्दी चलो। चलो जल्दी।”

दोनों गुफा की ओर भागे। वहाँ का दृश्य देखकर वे काँप उठे। मन्त्री के गुप्तचर उसी समय गुरु जी के शरीर को जलाकर गये थे। दोनों झरने की ओर दौड़े। लायी हुयी भिक्षा को झरने में डालकर भिक्षापात्र में और दोनों कमण्डलों में आग बुझाने के लिये जल भरकर ले गये। वहाँ उन्होंने क्या देखा? अरे! कौपीनधारी शंकर वहाँ हँसते हुये खड़े थे। पृथ्वीधर और पद्मपाद अवाक् रह गये। बहुत समय तक वे गुरु जी को आँखें फाड़कर देखते रहे। बाद में शरीर का परीक्षण करने पर उन्होंने पाया कि हाथों की और पैरों की उँगलियाँ कुछ जल गयी थी। पहने हुये वस्त्र पूरी तरह जल गये थे। पद्मपाद ने उनके पैरों पर गिरकर कहा, “गुरु जी! जो जिम्मेवारी आपने मुझे सौंपी थी वह मैं ठीक प्रकार से निभा नहीं पाया। मुझे क्षमा करें।”

“प्रिय पद्मपाद! भगवान् लक्ष्मीनरसिंहस्वामी ने हम दोनों की रक्षा की है। अब क्या चिन्ता करनी? आओ फिर मण्डन जी के घर चलें”, इतना कहकर शंकर ने गुफा में जाकर गठरी में से कुछ वस्त्र छँटे और झरने में स्नान करके अपने वस्त्र बदले और माहिष्मती की ओर चल पड़े।

शंकर जी के परकायाप्रवेश का समाचार बिजली की तरह माहिष्मती में फैल गया था। अमरुक के राज्य से निकला शंकरपरिवार अवधि के अन्तिम दिन मण्डन जी के घर पहुँचा। रास्ते में चलना भी कठिन था क्योंकि मार्ग में भारी संख्या में लोग एकत्रित थे। मण्डन जी और उभय भारती देवी दोनों उनका स्वागत करने के लिये आगे आये। पहले उभय भारती जी ने नमस्कार करके कहा,

“यतिश्रेष्ठ! गृहस्थों के स्वाभाविक दोष के कारण मैंने आपके साथ वाद में सीमा का उल्लंघन किया। मैं पहचान नहीं पायी की आप कौन हैं, तभी यह दोष हुआ। अब मैं जान गयी हूँ कि आप धर्म के उद्धार के लिये अवतीर्ण हुये परमेश्वर ही हैं। मुझे क्षमा करें।”

तत्पश्चात् मण्डन, ने ‘न कर्मणा....’ इस मन्त्र का पाठ करके शंकर जी को साष्टांग नमस्कार किया और बोले, “मैं आपके साथ आने के लिये तैयार हूँ। मैं आपका दास हूँ।”

शंकर ने भारती जी से कहा, “माँ! महात्मा भी कभी-कभी विशेष सन्दर्भों में अपने स्वभाव के विरुद्ध व्यवहार करते हैं। वह विधाता के विधान के अनुसार ही होता है। उस पर उनका नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये उसे दोष मानना गलत है। मैं आपमें कोई भी दोष नहीं देखता। आप मेरी पूज्या हैं। आप भी हमारे साथ आइये, हमारे साथ ही रहिये। मण्डन जी के संन्यास में अभी समय है। अगले दिन मण्डन जी ने अपनी संपत्ति अपने बच्चों में बाँट दी। अपने लिये उन्होंने जो कुछ रखा हुआ था वह उन्होंने विधिपूर्वक दान कर दिया। बच्चों ने उन्हें नमस्कार किया और मण्डन जी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। बाद में सादे वस्त्र पहनकर वह प्रस्थान के लिये तैयार हो गये। उभय भारती जी ने भी सादे वस्त्र धारण करके अपने पति का अनुसरण किया। सारी माहिष्मती ने दुःख, आश्चर्य और भक्ति के साथ उनको विदा किया। विस्तृत शंकरपरिवार दक्षिण दिशा में स्थित श्रीशैल के लिये रवाना हुआ।

•••

Maha Par...

अध्याय नौ

माहिष्मती से श्रीशैल से तिरुपति

श्रीशैल गहरे वन, झरनों और गुफाओं से युक्त पर्वतप्रदेश है। वहाँ सत्त्व, रज और तमोगुण तीनों एक ही समय में रहते देखे जा सकते हैं। वह साधुओं का निवासस्थान है; साथ-साथ कापालिक भी वहाँ रहते हैं। वहाँ पर हिंसक जानवर भी वास करते हैं। इन सबका समन्वय करके श्रीशैल पर्वत कूटस्थ रूप से स्थित है।

शंकरपरिवार यहाँ साधुओं और कापालिकों से आकर्षित होकर आया था। योग्य स्थान ढूँढकर वे वहाँ रहने लगे। भिक्षा कभी-कभी छोटे-मोटे आश्रमों से मिल जाती थी या कभी-कभी तीर्थयात्रियों द्वारा दिये गये सूखे आटे और अनाज से भारती जी खाना बना देती थीं। पहले के समान प्रातःकाल और दोपहर में साधु सन्तों के साथ समागम होने लगा। बहुत बार तीर्थयात्री भी उनमें भाग लेते थे। उन सबके लिये शंकर के प्रवचन अमृत के समान थे। एक दिन तो शंकर जी के आत्मस्वरूपविवेचन से संन्यासी आँख मूँदकर आत्मस्वरूप में ही स्थित हो गये। वहाँ आये यात्री तो श्रवणमात्र से आनन्द प्राप्त करने पर भी पूरी तरह विषय समझ न पाने के कारण असन्तुष्टि के अनुभव करते थे। उनमें से एक ने पूछा,

“गुरु जी! हम अज्ञानी हैं। इतना तो हम समझ रहे हैं कि आप जो कह रहे हैं वह अत्यन्त सुन्दर है। वह आत्मस्वरूप क्या हम जैसे लोग भी प्राप्त कर सकते हैं? कर सकते हैं तो उसका साधन क्या है कृपया हमें समझाइये।”

“बताता हूँ, सुनिये। प्राप्ति अवश्य हो सकती है। उसकी प्राप्ति का एक ही मार्ग है; वह है भगवान् की भक्ति। वह क्या होती है देखो। साधारणतया मनुष्य दुःख से बाहर आने के लिये अपने ही सामर्थ्य का सहारा लेता है; उसमें विफल होने पर भगवान् की शरण में जाता है। यह भक्ति की शुरुआत है। यह आर्त भक्त है। यह भक्ति, दुःख का हेतु जो पाप है, उसे नष्ट करती है। इस प्रकार दुःख के नाश से उत्साहित हो वह और विषयसुखों के लिये

भगवान् का भजन करता है। वह अब अर्थार्थी भक्त है। इस भक्ति से उसे अभिलाषा से भी अधिक विषयसुख प्राप्त होते हैं; क्योंकि उस भक्ति से पुण्य का सम्पादन होता है। भक्ति के द्वारा सभी अभिलषित विषयों को प्राप्त करने के बाद वह भगवान् को भूलकर पाप करता है और फिर से दुःख प्राप्त करने पर दुबारा आर्त भक्त बन जाता है। इस प्रकार आर्तभक्ति और अर्थार्थी भक्ति, इनमें ही लगा रहकर, सुख-दुःख में डूबा हुआ जन्म बिताता रहता है। परन्तु कभी बिना अभिलाषा के भगवान् की पूजा करी होने के कारण उसमें एक परिवर्तन आता है। सुख-दुःख, लाभ-हानि इत्यादि द्वन्द्वों से परेशान होकर उसे “यह भगवान् कौन हो सकता है?, मैंने उसको देखा नहीं है, फिर भी उसको भूलने से दुःख और स्मरण करने से दुःख का नाश होता है। कुछ क्षण के लिये सुख-दुःख को भूल जाता हूँ, यह कौन है?”, इस प्रकार भगवान् के विषय में जिज्ञासा होती है। अब वह जिज्ञासु भक्त है। यह जिज्ञासा इस बात का लक्षण है कि भगवान् ने उसके हृदय में प्रवेश कर लिया है। उसकी कृपा से ही जो भगवान् अब तक दूर थे, पास आ जाते हैं। जिज्ञासु तब भक्ति से भगवान् का चिन्तन करता है तब अन्दर रहकर भगवान् ही उसे गुरु के दर्शन कराते हैं। गुरु के हृदय में भी वही भगवान् रहता है। लेकिन उसकी विशेषता यह है कि वह भगवान् के दर्शन कर चुका है। इसलिये भगवान् जैसा है, गुरु उसे वैसा ही दिखाता है। वह वाणी से समझाता है कि “सभी आभूषणों में सोना होता है, उसी प्रकार, सबके हृदय में रहने वाला भगवान् ही मुझमें है”। जिज्ञासु की बुद्धि जो अभी तक बहिर्मुखी थी, वह अब अन्तर्मुखी होकर भगवान् का दर्शन करती है। अब वह ज्ञानी भक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुख रूप से रहते हुये उसे कई जन्मों के बाद आत्मदर्शन होता है। इसलिये हमें कभी भगवान् को भूलने का दौर्भाग्य नहीं होना चाहिये।”

उसी दिन समागम में कुछ कापालिक भी बैठे थे। उनमें से एक ने उठकर पूछा: “महास्वामी! जिस गुरु ने भगवान् के दर्शन कर लिये हैं उसके लक्षण क्या हैं?”

“भगवान् अत्यन्त शान्तस्वरूप हैं। अतः, जिसने उनके दर्शन कर लिये हैं वह भी शान्त हो जाता है। उसका व्यवहार मृदु होता है। वह किसी

को भी उद्विग्न नहीं करता। जो लोग दुःखी होते हैं उनकी वह करुणा से सहायता करता है। वह वेदोक्त सदाचार से सम्पन्न होता है। उसमें कोई भी दुराचार नहीं होता।”

“सद्गुरु कैसे प्राप्त किया जा सकता है?”

“प्रतिदिन फूलों से भगवान् की पूजा करनी चाहिये। उनके स्तोत्रों का पाठ करना चाहिये; उनका नामजप करना चाहिये; सबके हृदय में एक ही भगवान् है यह ध्यान में रखकर सबके प्रति प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इससे सन्तुष्ट होकर भगवान् सद्गुरु दिखाते हैं।”

अगले दिन से समागम में कापालिकों की संख्या बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उनके व्यवहार में सुधार होने लगा। विधि के रूप में वह जो मदिरा पीते थे उसे उन्होंने त्याग दिया। फलस्वरूप कापालिकों की स्त्रियों को भी शान्ति मिली। वे भी समागम में आकर बैठने लगीं। धीरे-धीरे उनके घरों में भगवान् की सात्त्विक पूजा आरंभ हो गयी। कापालिकों के घरों की शान्ति से उनके गुरु उग्रभैरव की शान्ति नष्ट होने लगी। ज्यों-ज्यों उसके शिष्यों की संख्या कम होती गयी, त्यों-त्यों शंकर के प्रति उसका द्वेष बढ़ता गया। प्रवचन के समय उग्रभैरव असहनीय रूप से आसपास ही मँडराता रहता था और वहाँ बैठे कापालिक उससे नज़र चुराने का प्रयत्न करते रहते। यह सब देखकर पृथ्वीधर और पद्मपाद ने आपस में सलाह की उन्हें गुरु जी के योगक्षेम के विषय में जागरूक रहना चाहिये। शंकर के परकायाप्रवेश के समय अपनी क्षणमात्र की असावधानी से जो शिक्षा मिली थी पद्मपाद, पुनः वैसा दोष न हो जाये उसके लिये सावधान थे।

शंकर जी के दैनिक कलापों का परिशीलन करके उग्रभैरव ने यह जान लिया था कि वह कब एकान्त में होते हैं। एक दिन वह स्नान करके और भस्म धारण करके आ रहा था तो उसने गुरु जी को एकान्त में बैठे देखकर साष्टांग नमस्कार किया। शंकर ने पूछा, “आप कौन हैं?”

“मेरा नाम उग्रभैरव है। हम सब कापालिक हैं, कालभैरव के भक्त।”

“आप कहाँ के रहने वाले हैं?”

“यह जंगल ही हमारा गाँव है। स्वामी जी! आपका गाँव कौन सा है?”

“हम ऐसे ही संचार करते हैं। हमारा कोई एक गाँव नहीं है।”

“यह जगह आपको पसन्द आयी?”

“बहुत अच्छी है।”

“मैंने आपको ध्यान में बैठे देखा है। यहाँ से ऊपर इससे भी अच्छा स्थान है। आइये, मैं आपको दिखाता हूँ।”

“नहीं भाई। यहाँ सब कुछ ठीक है।”

“एक बार देख लेंगे तो मालूम हो जायेगा। आओ देखो।”

“नहीं भाई।”

“भोजन के लिये क्या करते हो?”

“भिक्षा।”

“यहाँ और कितने दिन रुकेंगे?”

“जब तक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तब तक रुकूँगा।”

“कौन सा कार्य?”

“आपको ही आगे मालूम हो जायेगा।”

“क्या मतलब?”

“अब बातचीत के लिये समय नहीं है। अब आप जाइये।” यह कहकर शंकर जी ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुये उसे एक आम देकर विदा किया। वह बिना कुछ कहे चला गया। उसने पद्मपाद को नहीं देखा, जो वहीं सूखने के लिये बिछायी गयी काषाय धोतियों के पास बैठे थे।

एक दिन दोपहर का कार्यक्रम समाप्त हो चुका था और सब आये हुये लोग वापिस चले गये थे; सर्दी होने के कारण अँधेरा जल्दी हो गया था। शंकर जी अपनी जगह पर जाकर ध्यानस्थ हो गये। पद्मपाद दीप जलाकर बाहर आ गये। लगभग आधा घण्टा बीता होगा कि उन्होंने दीप के प्रकाश में एक छाया को हिलते देखा। उन्होंने चौकन्ना होकर ध्यान से देखा। आगे एक मनुष्य था, उसके पीछे एक कुत्ता था। थोड़ा भी शब्द किये बिना चलने वाला उग्रभैरव ही था, इसमें उन्हें संशय नहीं था। वे तुरन्त उठे और धीरे से ‘श’ कहा। पृथ्वीधर भी झट से तैयार हो गये। शंकर जी के पास पहुँचकर

उग्रभैरव नजरें गड़ाये उनकी ओर देख रहा था। खड्ग निकालने के लिये उसने जैसे ही हाथ बढ़ाया उसी क्षण कुत्ता भौंक उठा। उग्रभैरव तुरन्त शंकर जी को साष्टांग नमस्कार करके लौट गया। कुत्ता पृथ्वीधर और पद्मपाद को देखकर भौंकता हुआ उसके पीछे-पीछे चला गया। उस दिन से दोनों शिष्य अत्यन्त जागरुकता के साथ गुरु जी रक्षा में तत्पर रहने लगे।

एक और दिन साधुओं का समागम था। सामान्यतया यह कार्यक्रम दो घण्टे तक चलता था। उस दिन लगभग एक घण्टे तक वह कार्यक्रम निर्विघ्न रूप से चलता रहा। तत्पश्चात् उच्चध्वनि में असम्बद्ध प्रलाप करते हुये उग्रभैरव ने प्रवेश किया। वह बुरी तरह मदिरा पीये हुये था। भस्मधारण किये उसने गले में मनुष्य की अस्थियों की माला पहन रखी थी। कमर में बायीं तरफ म्यान लटक रही थी। “क्या रे! बड़ा शास्त्र का वक्ता बनता है! मेरी जगह पर आकर मुझे ही भगाना चाहता है? मैं कौन हूँ जानते हो? उग्रभैरव। देखो, मैं तुम्हारा क्या हाल करता हूँ।” इस प्रकार चिल्लाता हुआ वह क्षणार्ध में ही अपनी खड्ग निकालकर शंकर जी के सामने पहुँच गया। साधुओं की सभी में चीत्कार मच गया। परन्तु खड्ग के शंकर के गले तक पहुँचने से पहले ही पद्मपाद ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया और अपना घुटना उसके पेट में दे मारा। उग्रभैरव के गिरते ही पद्मपाद ने खड्ग छीनकर उसका सिर काट दिया और उच्च स्वर में हुंकार किया। पद्मपाद के इस उग्र रूप को देखकर सब काँप उठे। उसे अपने शरीर का भी भान नहीं था। सभा में बैठी कापालिक स्त्रियाँ तुरन्त उठकर मन्दिर में गयीं और कुंकुम, भस्म आदि लाकर उनको लेप लगाया, कर्पूर से आरती उतारी और अतीव भक्ति से नमस्कार किया। कुछ समय बाद पद्मपाद का मुख शान्त हुआ। उग्रभैरव के भूतपूर्व शिष्यों ने उसके शरीर को दफना दिया और चैन की साँस ली। एक-दो दिन बाद, शंकरपरिवार ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। कापालिकों द्वारा उनको भारी मन से विदा किया गया।

आगे वे सप्तगिरि तिरुपति पहुँचे। पुष्करिणी में स्नान और प्रातः के कृत्य समाप्त करके उन्होंने वेंकटेश स्वामी के दर्शन किये। मन्दिर के व्यवस्थापक ने गुरु जी को नमस्कार करके कहा, “महास्वामी! यहाँ बहुत संख्या में यात्री आते हैं। सभी लम्बे समय तक रहकर सेवा करना चाहते हैं।

प्रायः वे सभी निर्धन होते हैं। इसलिये यात्रियों के लिये व्यवस्था करने में बहुत कष्ट हो रहा है। कृपया अनुग्रह करिये।”

शंकर ने वहाँ पर धनाकर्षण यन्त्र की स्थापना करके हमेशा के लिये यात्रियों की सुविधा का प्रबन्ध कर दिया।

आन्ध्रप्रदेश का एक सुधन्व नाम का राजा वहाँ मण्डल सेवा के लिये आया था। वह भाष्यपाठ में आकर बैठता था। वह गुरुजी की महत्ता को समझ गया। एक दिन एकान्त में आकर उसने अपना परिचय दिया और बोला,

“भगवान्! भगवद् गीता में स्वकर्मणा तमभ्यर्चय सिद्धिं विन्दति मानवः कहा गया है। यहाँ सिद्धि का क्या अर्थ है? उस सिद्धि की प्राप्ति के लिये मुझे कौन से कर्म का आचरण करना चाहिये? कृपया समझाइये।”

“सुधन्व महाराज! आपने बहुत उत्कृष्ट प्रश्न पूछा है। मैं जो कहूँगा उसे ध्यानपूर्वक सुनिये”, कहकर शंकर ने उनको राजधर्म सिखाया।

“यहाँ सिद्धि का अर्थ है शाश्वत शान्ति। परमात्मा ही इसका आवास है। अतः, परमात्मा में रहना ही जीवन का ध्येय है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये सबके लिये एक ही मार्ग नहीं होता, क्योंकि सबके संस्कार और सामर्थ्य एक ही समान नहीं होते। ये तो पूर्वजन्मों में किये कर्मों के फल हैं। इनके अनुसार भगवान् हरेक को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों में से किसी एक वर्ण में जन्म देता है। जन्म देकर उस-उस वर्ण के लिये जो-जो कर्म विहित हैं उनको भी बताते हैं। कर्म ही धर्म है। जब सब अपने-अपने वर्णधर्म का अनुसरण करते हैं तभी सबको शान्ति मिलती है। इसका अर्थ यह है कि वर्णों के आपसी सहयोग से ही शान्ति मिल सकती है।”

“वर्णधर्म की और वर्णों की एकता की रक्षा करना राजा का धर्म है। वैयक्तिक रूप से करने वाले श्रुत्युक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म तो उसको करने ही होते हैं; परन्तु एक राजा को, प्रजा की अपेक्षा असाधारण स्थितियों का भी सामना करना पड़ता है इसलिये उसके बहुत विशेष धर्म भी बताये गये हैं। ऐसे प्रसंग हमारी पुण्यभूमि में बहुत स्थानों पर उठ खड़े हो चुके हैं। गान्धार और सिन्धुदेश पर म्लेच्छों के आक्रमण हो रहे हैं। ये केवल धन के

लोभ से किये गये आक्रमण नहीं हैं; लोगों पर भी आक्रमण हैं। किसलिये? उनका कहना है कि म्लेच्छ धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है और दुनिया के सभी लोगों को उसी का अनुसरण करना चाहिए। अपने धर्म को फैलाने के लिये वे भोले-भाले लोगों को मार डालते हैं; हमारी स्त्रियों को उठा ले जाकर उनका धर्मपरिवर्तन कर देते हैं। इन आततायियों को इस दुष्कर्म में अहिंसा का गीत गाने वाले बौद्धों की सहायता मिल रही है। वेदों के प्रति जो उनका द्वेष है वह इन दोनों को पास लाया है। इससे पता पड़ता है कि वेद से द्वेष, स्वजनों से द्वेष और स्वदेश से द्वेष तक ले जाता है। इस प्रकार की विषम परिस्थितियों का सामना करना सामान्य लोगों के बस की बात नहीं है; केवल राजा लोग ही कर सकते हैं। कई राजनीतिक कारणों से बौद्धों की समस्या इस समय काफी हद तक शान्त हो चुकी है, परन्तु उनके द्रोह से स्फूर्ति पाकर म्लेच्छों के आक्रमण बढ़ते जा रहे हैं।”

“राज्य के लोभ से हमारे अपने राजाओं के बीच में जो युद्ध लड़े जाते हैं उनमें जो रीति अपनाई जाती है और म्लेच्छों से युद्ध करते हुये जो नीति अपनाई जाती है, दोनों भिन्न होती हैं। ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ पर पराजित म्लेच्छ राजा ने मित्र होने का नाटक करके धोखे से विजयी राजा को मार डाला और उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया। इतनी आसानी से धोखा खाना एक समर्थ राजा का लक्षण नहीं है। हमारे दो राजाओं के बीच स्पर्धा का म्लेच्छों के साथ मित्रता का कारण बनना धर्म नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में पालनयोग्य नीति यह है ‘वयं पंचाधिक शतम्’। अपने आप में पाण्डव 5 हैं और कौरव 100। तीसरे के सामने वे दोनों मिलकर 105 हैं।”

“म्लेच्छराज पराजित होकर भाग तो जाता है परन्तु वह फिर आक्रमण कर सकता है। आम तौर पर हमारे राजा हर बार उसे केवल हमारी सीमा से बाहर ही भगाते हैं। यह अपर्याप्त है। उसके राज्य में प्रवेश करके उसके बल का मूल से नाश कर देना चाहिये। नहीं तो राजकोष खाली होता रहेगा और हमारे सैनिक मरते रहेंगे। सिन्धुदेश के राजाओं ने वेतन देकर (भाड़े पर) कुछ म्लेच्छ सैनिकों को अपनी सेना में रखा था। म्लेच्छों के साथ युद्ध करते समय वे सैनिक शत्रुपक्ष में चले गये और हमारे राजाओं की मृत्यु का कारण बने। अतः राज्य के संवेदनशील पदों पर बाहर वालों को नियुक्त करना

उचित नहीं है। और जो देशद्रोह करते हैं उन्हें सख्त से सख्त सजा न देना भी खतरनाक है। 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्, ग्रामं जल्पदस्यार्थे त्यजेत्' - ये सब आज की परिस्थिति में राजाओं के विशेष धर्म हैं। आपको शम-दम से सम्पन्न धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों से समय-समय पर मन्त्रणा करके धर्म की रक्षा करनी चाहिये। यही है राजा को सिद्धि देने वाला स्वकर्म नामक भगवान् का अर्चन।”

दो-तीन दिन के बाद शंकर जी कर्नाटक जाने की तैयारी करने लगे। वहाँ सेवा के लिये विदर्भ का राजा आया हुआ था। उसने उन्हें कहा कि वहाँ जाना ठीक नहीं है। शंकर जी के कारण पूछने पर उसने कहा,

“वहाँ कापालिकों का उपद्रव बहुत है।”

“तब तो वहाँ अवश्य ही जाना चाहिये”, शंकर ने कहा। विदर्भराज को उनके व्यक्तित्व की गहराई का अन्दाजा नहीं था। सुधन्व नरेश ने तुरन्त कहा, “भगवन्! आप कर्नाटक के लिये रवाना हो जाइये, मैं सेना लेकर आपके साथ चलूँगा।”

सुधन्व के यह वचन सुनकर विदर्भराज को अपने वचनों पर लज्जा महसूस हुयी। वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

• • •

Maha

अध्याय दस तिरुपति से कालड़ी

कर्नाटक की ओर यात्रा आरंभ हुयी। आगे सुधन्व की सेना थी, पीछे शंकरपरिवार। कर्नाटक में क्रकच नामक व्यक्ति कापालिकों का नेता था। वह शराबी, क्रूर और दुष्ट था। उसके पास खड्गधारी कापालिकों की एक छोटी सी सेना भी थी। उससे डरकर लोगों ने पूजा आदि अपने घरों तक ही सीमित कर रखी थी। सत्संग और उत्सव बन्द हो चुके थे। शंकर की महानता के विषय में सुनकर वे लोग उनके दर्शन के लिये लालायित थे। फिर भी खुले में आने से डरते थे। सुधन्व की सेना की रक्षा है यह जानकर वे हिम्मत करके आगे आये और मन्दिरों में सत्संग की व्यवस्था की। भारी संख्या में लोग आने लगे। उनमें उत्साह की लहर दौड़ रही थी। इससे क्रोधित हो क्रकच अपनी सेना के साथ आया और सभा में विघ्न डालने का प्रयत्न करने लगा। सुधन्व के सेनापति ने कापालिक सैनिकों को सम्बोधित करके कहा,

“आपमें से जिनको जीवित रहने की इच्छा हो वे अपने-अपने शस्त्रों को यहीं डालकर अपने घर जा सकते हैं; या मन्दिर में हो रहे उत्सव में सम्मिलित होकर, आये हुये महागुरु का आशीर्वाद और प्रसाद लेकर फिर जा सकते हैं। जिनको जीवित रहने की अभिलाषा नहीं है केवल वे ही युद्ध की तैयारी करें। आपको मौत के घाट उतारने के लिये मैं तैयार हूँ।”

कापालिकों की सेना में भ्रम उत्पन्न हो गया। कुछ समर्पण करना चाहते थे और कुछ युद्ध। अन्त में समर्पण करने वाले ही अधिक थे। अंगारे के समान जलता हुआ क्रकच बचे हुये सैनिकों के साथ हुंकार भरता हुआ आगे बढ़ा। तुरन्त सेनापति ने एक ही बाण से उसका सिर घड़ से अलग कर दिया। शेष बचे सैनिकों ने अपने हथियार डालकर आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार कर्नाटक में कापालिकों की समस्या पूरी तरह हल हो गयी। शंकर ने सुधन्व राजा को आशीर्वाद देकर वापिस भेज दिया।

शंकर जी ने वहाँ से दक्षिण की ओर रवाना होते समय मण्डन जी, उनकी पत्नी और पद्मपाद जी को शृङ्गेरी भेज दिया और कहा कि वह उन्हें एक महीने बाद वहीं मिलेंगे। पृथ्वीधर जी के साथ वह केरल की ओर रवाना हुये। केरल की सीमा आने पर उन्होंने कहा,

“पृथ्वीधर! मेरी माता अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही हैं। जब मैं उनको छोड़कर जा रहा था तो मैंने प्रतिज्ञा की थी कि उनके अन्तिम समय में मैं उनके साथ रहूँगा। अतः मैं कालड़ी जाऊँगा। एक महीने में शृङ्गेरी पहुँचूँगा। मुझे लगता है कि आपका केरल में संचार करना आवश्यक है। यहाँ की परिस्थितियाँ मालूम करके आप भी उस समय तक शृङ्गेरी पहुँच जाइये। आगे जो-जो कार्य करने हैं वहीं निश्चय करेंगे।”

फुर्ती से चलते हुये शंकर जी कालड़ी पहुँचे। मार्ग में जो नये स्थान पड़े वहाँ भारी भीड़ ने उनका स्वागत किया। परन्तु जहाँ उनका जन्म हुआ था उस गाँव में वह अकेले ही चलते हुये घर पहुँचे। उनके बचपन के शिष्य नारायण नम्बूदिरि और विश्वनाथ नम्बूदिरि को छोड़कर घर में माँ के साथ और कोई नहीं था। जो घर हमेशा बन्धुओं और मित्रों से भरा रहता था आज सूना था। शंकर तुरन्त खाट पर सोयी माँ के पास गये और पैर छूकर नमस्कार करके बोले, “माँ! मैं शंकर, आ गया हूँ। माँ ने धीरे से अपनी आँखें खोलीं, दोनों हाथ फैलाकर शंकर का आलिंगन किया और बोली, “शंकर! आ गये? मैं जानती थी कि तुम जरूर आओगे। तुम अच्छे तो हो न?”

“बिल्कुल ठीक हूँ माँ! आप कैसी हो?”

“आखिरी दिनों में जैसी होनी चाहिये वैसी हूँ। तुम्हें भिक्षा में कष्ट तो नहीं होता न? ठीक से मिल रही है न?”

“मिल रही है माँ। कोई कमी नहीं है।”

“अपने स्वास्थ्य का सही प्रकार से ध्यान रखो।”

“हाँ माँ।”

“पहले स्नान करके भोजन करो। नारायण! खाना तैयार है तो शंकर के लिये परोस दो।”

शंकर ने पूछा, “नारायण! माँ क्या खाती हैं?”

“परसों खाना खाया था। कल केवल चावल का पानी पिया था।”

“माँ आज आप क्या खाओगी?”

“मैं थोड़ा सा भोजन करूँगी।”

“गुरु जी! आपके आने से माँ में बल आ गया है। खाने की इच्छा कर रही हैं”, नारायण ने हँसते हुये कहा।

धोने के लिये जो माँ के कपड़े रखे थे वे शंकर ने स्वयं धोकर सुखा दिये। फिर स्नान किया। नारायण से पूछकर, जैसा उसने बताया, वैसे अन्न को लेकर माँ के पास गये। उनको बिस्तर से उठाकर बिठाया और खाना खिलाया। बाद में उनके बैठे-बैठे ही पलंग को साफ करके बिस्तर बिछाकर माँ को सुला दिया। बाद में स्वयं भोजन किया।

शंकर ने शिष्यों से पूछा, “महापण्डित जी और हमारे गुरु नारायण दीक्षित जी कुशल हैं न?”

“दोनों का स्वर्गवास हो गया है। नारायण दीक्षित जी की पत्नी है। पुत्र गुरुकुल चला रहा है। बहू, पोते सब हैं।”

“फिर तो एक बार जाकर उनसे मिलना चाहिये”

“चलो। मैं भी चलूँगा।”

खाना बनाना छोड़कर माँ की सब सेवा शंकर स्वयं ही करते थे। दो दिन बाद माँ की शारीरिक स्थिति और क्षीण हो गयी। आँखें बन्द किये आर्याम्बा ने आवाज लगायी, “शंकरSS”।

“माँ! मैं तो आपके पास ही हूँ”, कहकर शंकर ने माँ के हाथ पकड़ लिये। उन्होंने धीरे से आँखें खोलकर कहा, “तुम्हारे बारे में लोगों से बहुत कुछ सुना है। मैं बहुत खुश हूँ। मैं धन्य हुयी। अपनी प्रतिज्ञानुसार तुम्हारे मेरे आखिरी दिनों में आने से मुझे बहुत शान्ति मिली है। मेरे अन्तिम समय में मुझे जो समझना चाहिये वह मुझे सिखाओ और सद्गति दिलाओ।”

“माँ! अन्तिम समय शरीर का है; आपका नहीं। सद्गति प्राप्त करने के लिये आप रहती ही हैं।”

“सद्गति का क्या मतलब है?”

“सद्गति का अर्थ है कृष्ण में ही रहना उसी में एक हो जाना। आप प्रतिदिन भगवान् श्रीकृष्ण से ही उठकर आती हो और फिर श्रीकृष्ण में ही जाती हो। अब हमेशा के लिये श्रीकृष्ण में ही रहने जा रही हो, इतना ही है।”

“प्रतिदिन उनसे ही उठकर फिर उनमें ही जाती हूँ, इसका क्या अर्थ है?”

“प्रतिदिन गहरी नींद से उठकर आकर फिर गहरी नींद में ही जाती हो न! वही मैंने कहा है। क्या तुम्हें पता है कि गहरी नींद में तुम कहाँ होती हो? कृष्ण में ही होती हो। इसलिये, सब दुःखों से रहित सुख में होती हो। सुख होता है केवल कृष्ण में। बाहर नहीं होता। मैंने जो कहा आप समझ गयीं न?”

“मुझे इसके बारे में और बताओ।”

“माँ, देखो कृष्ण के सुख में कोई उतार चढ़ाव नहीं है। जब आप बालिका थीं तब सोने पर जो सुख लेती थीं, वही सुख वृद्ध होने पर भी लेती हो न? कहीं भी सोइये, वही सुख मिलता है न? कभी भी सोइये वही सुख मिलता है न? शरीर होने के कारण ही तुम अभी तक जाग जाती थीं और कृष्ण को भूल जाती थीं। अब आगे शरीर नहीं होगा, कृष्ण को भी नहीं भूलोगी। शरीर के होने से ही भूलना होता है न?”

“नहीं भूलने से क्या मतलब है? अब आगे मेरा जन्म नहीं होगा क्या?”

“माँ! जब शरीर ही नहीं है तो जन्म कैसे होगा?”

“लेकिन शरीर तो है न?”

“माँ आपको इस समय भी शरीर नहीं है, कैसे देखो! गहरी नींद में कृष्ण से एक होकर आनन्दावस्था में रहने पर आपको शरीर होता है क्या?”

“नहीं होता।”

“मैं उसी को कह रहा हूँ। अगर आप इसको भूलती हो तो आपका शरीर से सम्बन्ध होता है; नहीं तो शरीर ही नहीं है।”

“कृष्ण का भी तो शरीर था न?”

“था। सबके शरीर के समान एक दिन वह शरीर भी मर गया। फिर भी कृष्ण अब नहीं है क्या? कृष्ण न जाते हैं न आते हैं। सदा रहते ही हैं। आप भी सदा उनमें ही रहती हैं। आप भी न आती हैं न जाती हैं।”

“शंकर, शंकर ! तुमने मुझे अत्यन्त उत्तम विचार का बोध कराया है। तुमने जो कहा है बिल्कुल ठीक है; इसका अर्थ यह है कि मेरे को भी शरीर नहीं है और तुम्हें भी शरीर नहीं है। हाय! अपने को यह शरीर समझकर मैंने कितने कष्ट उठाये। अब पता पड़ा। एक कृष्ण ही है। ‘मैं’ भी नहीं, ‘तुम’ भी नहीं। इसके बाद व्यामोह नहीं है। दुःख नहीं हैं। कितना अच्छा है! नारायण! विश्वनाथ! यहाँ आओ। तुम दोनों ने मेरी बहुत सेवा की है। सुखी रहो। अब मुझसे कोई बात न करें। सब बाहर चले जाओ”, यह कहकर माँ ने आँखें बन्द कर लीं। ठीक दोपहर को उन्होंने शरीर त्याग दिया।

नारायण और विश्वनाथ की सहायता से शव को बाहर लिटा दिया गया। नदी से घड़ों में जल लाकर उन्होंने शव पर डाला। फिर शंकर ने तीन बार प्रदक्षिण करके नमस्कार किया और शव के मुँह में चावल के दाने डाले। “माँ! तुमने मुझे बड़े प्यार से पाल-पोस कर बड़ा किया। मैं तुम्हारी कुछ भी सेवा न कर पाया। तुम्हें अकेला छोड़कर चला गया। तुम मुझे ‘मेरा मोती; मेरी आँखें; मेरा राजा, कहकर बुलाती थीं। मुझे ‘चिरंजीवी रहो’, का आशीर्वाद देनेवाले मुख में अन्तिम समय में चावल डालने के सिवा मैं और कुछ न कर सका। मुझे क्षमा करें”, यह कहते हुये शंकर के सब्र का बाँध टूट गया और आँखों से आँसू बहने लगे।

शव के ऊपर सफेद वस्त्र डाला गया। नारायण पुरोहित जी को बुलाने चला गया। उसके साथ गाँव के नम्बूदरी ब्राह्मणों का एक समूह भी आया। उनमें से एक वृद्ध ने चर्चा शुरू की, “अन्तिम कर्म कौन करेगा? शंकर तो नहीं कर सकता, क्योंकि उसने तो यज्ञोपवीत निकाल कर फेंक दिया है। और कौन कर सकता है?”

“नारायण कर सकता है न?”, शंकर ने कहा।

“उसके तो माता-पिता जीवित हैं, वह कैसे कर सकता है?”

“तब विश्वनाथ करेगा।”

“यह कर्म करने के लिये उसे क्या अधिकार है?”

“और कौन कर सकता है? आप ही बताइये।”

“दस दिनों तक अपरसंस्कार, बाद में वर्षभर में सोलह श्राद्ध, यह सब कौन करेगा? किसलिये करेगा?”

“यह सम्पत्ति लेकर तो हो सकता है न?”

भीड़ में से किसी ने कहा, “यह अपनी कौन सी सम्पत्ति की बात कर रहा है जरा पूछो तो सही”।

एक और ने कहा, “जा-जा, तेरी यह सम्पत्ति किसे चाहिये”।

शंकर कुछ देर चुप रहे फिर बोले, “छोड़ो, मैं ही कुछ करता हूँ”, और शव उठाने आगे बढ़े।

“जिसने यज्ञोपवीत निकालकर फेंक दिया है उसे हम श्मशान में शव का संस्कार नहीं करने देंगे।”

पुनः कुछ देर मौन रहकर शंकर बोले, “यही घर में पीछे आँगन में करूँगा। आप सब जा सकते हैं।”

“कुछ भी करो, हमें उससे क्या?”, इतना कहकर सब ब्राह्मण चले गये। इतने में कोलाहल सुनकर अग्रहार से बाहर रहने वाले ब्राह्मणेतर जन वहाँ आये। ब्राह्मण युवक और शंकर के पुराने शिष्य भी वृद्धों से आँखें बचाकर आ गये। जलाने के लिये लकड़ी शूद्रों ने लाकर दी। शव को पीछे आँगन में ले जाया गया। इन सबके सहयोग से शव का संस्कार हुआ। उस समय जिन लोगों ने पैर की तरफ से शवयान को पकड़ा था वे ‘काप्पल्लि इल्लं’, कहलाये जाने लगे और जिन्होंने सिर की ओर से पकड़ा था वे ‘तलेयाट्टिपिल्लि इल्लं’ कहलाये गये। नदी में स्नान करके लौटने पर सबने शंकर को नमस्कार किया। ब्राह्मण युवकों ने कहा, “गुरु जी! हमारे बड़ों के व्यवहार पर आपका दुःख स्वाभाविक है। हम सभी आपके शिष्य हैं। आपका आशीर्वाद सदैव हम पर बना रहे। उनपर भी आप कुपित न हों। वह नहीं जानते कि आप कौन हैं, इसीलिये उन्होंने ऐसा किया।”

अगले दिन शंकर अपने बचपन के गुरुकुल के मित्रों और शिष्यों से मिले। शंकर ने गुरुपत्नी को नमस्कार करके उनका योगक्षेम पूछा। पुरानी

यादें ताजा हो आर्यीं। अपनी उत्तर भारत के प्रवास के विषय में सन्दर्भानुसार जितना आवश्यक था उतना बताकर उन्होंने फिर बदरीनाथ के मन्दिर के विषय में कहा, “सर्दी को छोड़कर और समय वहाँ बहुत तीर्थयात्री आते हैं। किन्तु वहाँ योग्य पुजारी नहीं है। वहाँ वेदाध्ययन भी क्षीण हो गया है। मैं वहाँ कहकर आया था कि पुजारियों को भेजूँगा। आप में से चार-पाँच लोग वहाँ जाकर इस कार्य को करेंगे तो धर्म की रक्षा होगी।” कुछ युवक बड़े उत्साह के साथ आगे आये। शंकर ने वहाँ के अध्यक्ष ब्रह्मदत्त जी को उनका परिचय लिखकर उन सबको बदरीनाथ भेज दिया। “मैं पहले शृङ्गेरी जाऊँगा” कहकर, वे दूसरी बार कालड़ी से अकेले निकल पड़े।

•••

Maha Parivraja

अध्याय ग्यारह

कालड़ी से शृङ्गेरी

तब तक मण्डन दम्पति और पद्मपाद जी शृङ्गेरी में निवासस्थान ढूँढकर बस गये थे। पृथ्वीधर के आने के बाद शंकर जी के स्वागत के लिये जोर-शोर से तैयारियाँ होने लगीं। वहाँ के निवासियों के सहयोग से गाँव को तोरणों से सजाया गया। गाँव के बाहर शंकर जी को लिवा लाने के लिये कुछ लोग पहले से ही प्रतीक्षा में खड़े हो गये। शंकर के गाँव में प्रवेश करते ही अनेक प्रकार के बाजे, ढोल, नगाड़े, भेरी और घण्टे बजने लगे। जयकार की ध्वनि दूर-दूर तक के गाँवों तक जा पहुँची। वेदिका पर बैठे शंकर ने जनों को सम्बोधित किया:

“शृङ्गेरी अत्यन्त पवित्र और शान्त है। यह तप करने के लिये उत्कृष्ट स्थल है। ऋषि शृङ्ग आदि महामुनियों ने यहाँ तप किया है। अनेक श्रोत्रियों ने अपने श्रौतस्मार्त कर्मों से शृङ्गेरी को धर्मस्थान बनाया है। पूरे दक्षिण भारत का वेद-वेदान्त केन्द्र बनने के लिये यह योग्य स्थान है। इस स्थान को अलंकृत करने के लिये उत्तर भारत के माहिष्मती नगर से मण्डन मिश्र नाम के महात्मा यहाँ रहने के लिये आये हैं। ये प्रसिद्ध कुमारिल भट्ट जी के प्रत्यक्ष शिष्य हैं। इनका चरित्र पवित्र है। आगामी चैत्र मास की शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को ये संन्यासदीक्षा ग्रहण करने वाले हैं। ये यहीं रहकर पढ़ायेंगे और प्रवचन करेंगे। पूरे दक्षिण भारत में संचार करेंगे। मैं इस गाँव की देवी शारदा माता से प्रार्थना करता हूँ कि वे अनुग्रह करें कि इनके नेतृत्व में शृङ्गेरी पूरे दक्षिण भारत में विद्या का केन्द्र बन जाये।”

संन्यासदीक्षा से एक दिन पहले मण्डन जी ने उपवास किया और अष्ट श्राद्ध और विरजाहोम किया। रामनवमी के दिन संन्यासदीक्षा हुयी। मण्डन जी सुरेश्वराचार्य हुये। शंकर जी ने उनसे वहाँ एकत्रित विशाल जनसमूह को आशीर्वचन देने के लिये कहा।

सुरेश्वराचार्य ने कहा, “वेद अभ्युदय के लिये कर्ममार्ग को और मोक्ष

के लिये ज्ञानमार्ग को बताते हैं। अत्यन्त श्रम से किये जाने वाले कर्मों का फल अत्यन्त अल्प ही होता है। यह समझकर कुछ लोग सकाम कर्म को छोड़कर केवल विधिरूप से नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते हुये परमात्मा की आराधना करते हैं। इससे चित्त की शुद्धि होती है और वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसा विरक्त ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है। वह सभी कर्मों को त्यागकर, शम का आश्रय लेकर अपनी आत्मा परमपुरुष का चिन्तन करता है। इससे परमपुरुष की नित्यप्राप्ति रूप महान् फल की सिद्धि होती है। इस श्रेष्ठ तत्त्व का बोध कराकर शंकर भगवत्पाद ने मुझे कर्मबन्धन से मुक्त कर दिया। उन्होंने मुझे यहाँ रहने की आज्ञा दी है। वे यम को भी चुनौती देने में सक्षम दक्षिणामूर्ति-स्वरूप ही हैं; मुझे लगता है कि इसलिये उनका कार्यक्षेत्र दक्षिण हुआ है। उन्होंने मेरे ऊपर एक बहुत बड़ा दायित्व डाला है। केवल उन महानुभाव के अनुग्रह से और आप सबके सहयोग से ही मैं उस दायित्व को निभा सकता हूँ। इन दोनों के ही योग्य पात्र बनने के लिये मैं प्रयत्न करूँगा।”

शुक्लयजुर्वेदी और उत्तरभारतीय सुरेश्वर दक्षिणाम्नाय पीठ के प्रथम आचार्य हुये। उन्होंने पाठन और प्रवचन शुरू करे। उनकी विद्वता और सत्चरित्र से प्रभावित होकर कुछ ही समय में शृङ्गेरी के विद्वानों में उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो गयी।

श्रीबलि मँगलूर प्रान्त में एक गाँव है। उसे आज शिवल्लि के नाम से जाना जाता है। दक्षिणाम्नाय पीठ के उद्घाटन समारोह में वहाँ से अनेक विद्वान् और कर्मानुष्ठाननिरत व्यक्ति सम्मिलित हुये थे। उन्होंने अपने गाँव आने के लिये शंकर जी को आमन्त्रित किया। शंकर पृथ्वीधर और पद्मपाद दोनों को लेकर गये। वहाँ पाठन, प्रवचन और विचारगोष्ठियाँ आरंभ हुयीं। आसपास के गाँवों के विद्वान् और साधक वहाँ आकर सम्मिलित होने लगे। महात्मा के आगमन पर अपने दुःखों के निवारण के लिये आर्तजन दर्शन के लिये आते ही हैं। एक दिन ऐसे ही एक व्यक्ति ने आकर नमस्कार किया। अपने पुत्र से भी नमस्कार कराकर उन्होंने कहा:

“महास्वामी! मेरा नाम प्रभाकर शर्मा है। हम ऋग्वेदी हैं। यह मेरा पुत्र

है। बारह वर्ष का है। इसे अभी भी बोलना नहीं आता। इसकी किसी में भी आसक्ति नहीं है। खाने के लिये बुलाने पर ही आता है, स्वयं कभी नहीं पूछता। दूसरे बच्चों के साथ नहीं खेलता। किसी ने कहा कि इसका उपनयन संस्कार करा दो तो सब ठीक हो जायेगा। वह भी हो गया; परन्तु कोई फर्क नहीं पड़ा। कुछ लोग बोले कि किसी भूत-प्रेत की छाया है; इसलिये हम इसे मान्त्रिकों के पास भी ले गये, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। वैद्यों ने कहा कि इसका स्वास्थ्य ठीक है और किसी भी औषधी की आवश्यकता नहीं है। मेरा एक ही पुत्र है! आपकी कृपा से ही यह ठीक हो सकता है।”

शंकर जी ने अपने हाथ से उसका सिर सहलाते हुये पूछा, “तुम्हारा नाम क्या है?”, कोई उत्तर नहीं आया।

शंकर ने उसके पिता की ओर इशारा करके पूछा, “इनका क्या नाम है?”, फिर भी कोई उत्तर नहीं मिला।

“तुम किसलिये जड़ हो, बताओ?”

“मैं जड़ नहीं हूँ। सदा समान रीति से रहने वाला आत्मस्वरूप हूँ। मेरे में किसी व्यवहार के लिये प्रवृत्ति नहीं है”, इतना कहकर वह चुप हो गया। शंकर जी को सन्तोष हुआ, साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। हाथ (हस्त) पर रखे आँवले (आमलक) के समान उसे आत्मतत्त्व स्पष्ट रूप से मालूम था। यह देखकर शंकर जी ने उसे ‘हस्तामलक’ के नाम से पुकारा। प्रभाकर शर्मा जी अवाक् रह गये और बोले,

“स्वामी जी! मेरा पुत्र भूतग्रस्त है यह सोचकर मैं अत्यन्त दुःखी था। आपकी कृपा से मेरा दुःख दूर हो गया। “बार-बार शंकर को नमस्कार करके पुत्र को बोले, “आओ चलें”।

“शर्मा जी यह स्पष्ट है कि यह उत्तम ज्ञानी है। इसका उपयोग मेरे लिये है आपके लिये नहीं। यह सदा चुप बैठा रहता है, इससे आपको भविष्य में दुःख ही होगा। अतः, इसे मैं ले जाता हूँ। मुझे दे दीजिये”, शंकर ने कहा। प्रभाकर जी सोचने लगे कि ब्याज की इच्छा से इनके पास आया था, परन्तु मूलधन ही खो बैठा’ शंकर जी ने फिर कहा, “शर्मा जी चिन्ता मत करो। भविष्य में आपके और भी बच्चे होंगे। वे स्वस्थ, बुद्धिमान और

दीर्घायु होंगे। वे माता-पिता में भक्ति रखने वाले होंगे। इसको मैं ले जाता हूँ।”

शर्मा जी ने पुत्र से पूछा, “जाओगे क्या?” उसने कुछ नहीं कहा केवल पिता को नमस्कार करके शंकर जी के पीछे जाकर खड़ा हो गया! शर्मा जी की आँखों में पानी भर आया। अपने आँसुओं को पोंछते हुये वे वहाँ से चले गये।

दो-तीन दिन बाद दोपहर के सत्संग के बाद शंकर ने पशुपतिनाथ मन्दिर का प्रस्ताव रखने से पहले भूमिका के रूप में कहा, “आपके गाँव में सम्यक् रूप से वेदाध्ययन को देखकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ है। किन्तु हमारे देश के उत्तरभाग के प्रान्त-प्रदेशों में वेदाध्ययन कुण्ठित हो गया है। नेपाल में तो परिस्थिति शोचनीय है। वहाँ के सुप्रसिद्ध पशुपतिनाथ मन्दिर में अत्यधिक संख्या में तीर्थयात्री आते हैं। लेकिन व्यवस्थित रूप से पूजा के क्रम को जाननेवाले लोग नहीं हैं। यहाँ से अगर कुछ युवक जाकर शास्त्रोक्त रीति से पूजादि कर्म और अध्यापन का कार्य करेंगे तो धर्म की रक्षा के लिये मार्ग बनेगा। क्या कोई जाने के लिये तैयार हैं?”

कुछ देर बाद एक युवक ने पूछा, “वहाँ की व्यवस्था किसके हाथ में है?”

“महाराजा की ही सारी व्यवस्था है। वे आपकी सब सुविधाओं का ध्यान रखेंगे।”

“हम उन्हें कैसे सम्पर्क कर सकते हैं?”

“मैं आपको परिचय-पत्र लिखकर दूँगा। मैं उनसे पहले ही बात कर चुका हूँ। उनको यह पत्र दिखलाना ही काफी होगा। वह आपके लिये सब सुविधाओं की व्यवस्था कर देंगे।”

“ऐसा है तो हम जायेंगे”, कहकर पाँच युवक आगे आये। शंकर जी ने परिचयपत्र देकर उन्हें नेपाल भेज दिया। आज भी वहाँ यही व्यवस्था कायम है।

श्रीबलि से लौटने पर शंकर ने भाष्य पढ़ाना आरंभ किया। बीस वर्ष की आयु का एक युवक वहाँ उपस्थित रहता था। वह लम्बा और हुष्ट-पुष्ट

था और कभी किसी से बातचीत नहीं करता था। दूसरों से पहले आकर कोने में एक खम्भे के पास बैठ जाता था। एक दिन पाठ के बाद उसने अत्यन्त भक्ति के साथ गुरु जी को नमस्कार किया और अपना परिचय दिया:

“मेरा नाम गिरि है। मैं केरल से हूँ। मैं आपके साथ रहकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ। क्या ऐसा हो सकता है?”

“क्या वेदाध्ययन हुआ है?”

“कुछ-कुछ”

“आपका कौन सा वेद है?”

“अथर्ववेद।”

“आपके पिता क्या करते हैं?”

“वह वैद्य हैं। उनका एक छोटा सा बगीचा भी है।”

“क्या आपके माता-पिता को पता है कि आप यहाँ आये हैं?”

“मैं उनकी आज्ञा लेकर ही आया हूँ। मैंने उन्हें बता दिया है कि संसार में मेरी आसक्ति नहीं है। मेरी माँ को बहुत दुःख हुआ। परन्तु इसकी जन्मपुत्री में संन्यास का योग है’, यह कहकर पिता जी ने माँ को सान्त्वना दी। आपके बारे में उन्होंने सुना है। उन्होंने ही मुझे आपके पास भेजा है।”

तत्पश्चात् गुरु जी की सेवा का सारा कार्य उसके द्वारा ही होने लगा। दन्तधावन के लिये नीम की टहनी लाना, कपड़े धोना, आसन की व्यवस्था करना, अनुष्ठान की व्यवस्था करना, यह सब वह ही करता था।

एक दिन वह गुरु जी के वस्त्र धोने नदी पर गया हुआ था। पाठ का समय हो गया था। सब आकर बैठ गये। फिर भी गुरु जी ने पाठ शुरू नहीं किया। पाठ में प्रतिदिन आने वाले एक गृहस्थ ने शंकर जी की ओर देखते हुये कहा, “पाठ शुरू कर सकते हैं न?”

“गिरि अभी तक नहीं आया है; उसकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।”

“गिरि तो आकर बैठ चुका है!”

उसने हँसते हुये कहा।

“कहाँ?”

“यहाँ”, कहकर उसने उस खम्भे की ओर इशारा किया जहाँ गिरि बैठा था। कुछ लोग हँस पड़े। गुरु जी, बिना कोई प्रतिक्रिया दिये, मौन बैठे रहे। कुछ ही देर में गिरि दौड़ता हुआ आया और उसी खम्भे के पास बैठ गया। बाद में गुरु जी ने पाठ आरंभ किया। पाठ के अन्त में उन्होंने कहा,

“परसों गिरि संन्यासदीक्षा स्वीकार करेंगे। अतः, कल और परसों पाठ नहीं होगा।”

गिरि को आश्चर्य हुआ। दूसरों को भी आश्चर्य हुआ।

संन्यासदीक्षा के बाद सम्मिलित हुयी सभा में शंकर ने नये संन्यासी के प्रति कहा,

“किसी भी विषय पर कुछ वाक्य बोलिये।”

गिरि डरे हुये थे। फिर भी उठकर बोले, लोगों को सम्बोधित करके नहीं, बल्कि गुरु को सम्बोधित करके,

“भगवन्! मुझमें शास्त्रविषयों पर बोलने का सामर्थ्य नहीं है। इन दो महीनों में आपके द्वारा कहे अमृत वचनों के अलावा मैंने और किसी शास्त्र का श्रवण नहीं किया है। लेकिन आपके दर्शन से ही मुझे यह अनुभव हो रहा है कि मैं भवसागर से दूर जा रहा हूँ। आपके वचनों को सुनने के बाद मुझे इस बात का कोई दुःख नहीं रहा कि मैंने किसी शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। आप सकल शास्त्रों में पारंगत हैं। फिर भी मेरे जैसे अकिंचन पर भी अपार करुणा रखते हैं। आप मेरे जैसे दीनों के उद्धार के लिये ही देशभर में संचार कर रहे हैं। भगवन्! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मेरा उद्धार कीजिये”, यह कहकर फिर उन्होंने अनुभवी कवियों के लिये भी जो दुष्कर है उस तोटक छन्द में आठ श्लोकों की रचना करके सुनायी। फिर काँपते हुये शरीर से नमस्कार किया। ऐसा करते हुये उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। यही गिरि आगे चलकर तोत्काचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये। ऐसा अद्भुत चमत्कार गुरुकृपा के फल के सिवाय और क्या हो सकता है! बाद में गिरि को स्तम्भ कहकर हँसी उड़ाने वाला गृहस्थ शंकर को नमस्कार करके बोला,

“मैंने परसों बहुत अनुचित बर्ताव किया। कृपया मुझे क्षमा करें। मुझ पर अनुग्रह करें कि मैं भी गिरि जैसा साधक बन सकूँ।”

“मन यदि सात्त्विक होकर अन्तर्मुखी न बने तो वेदान्तश्रवण का कोई लाभ नहीं है। कठोर शब्द बोलना एक बहुत बड़ा दोष है। अपने चिन्तन में सात्त्विकता लाने का अभ्यास करो। तब वाणी भी सहज रूप से सात्त्विक हो जाती है”, शंकर जी ने कहा।

कुछ दिन के बाद, आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को प्रदोष में श्रीबलि से शंकर जी के साथ आये प्रभाकर शर्मा के पुत्र ने संन्यासदीक्षा स्वीकार की और हस्तामलक आचार्य हुये। शंकर ने सुरेश्वर द्वारा अपने बृहदारण्यक और तैत्तिरीय भाष्यों पर वार्तिकों की, तथा नैष्कर्म्यसिद्धि नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी करायी।

एक दिन जब पृथ्वीधर ने गुरु जी के कमरे में प्रवेश करके नमस्कार किया तो गुरु जी ने पूछा, “आप केरल में रहकर आये हो न, आपने बताया ही नहीं कि वहाँ आपने क्या देखा।”

“मैं जब भी आपको बताने आता तो आप किसी न किसी के साथ व्यस्त होते। अगर अभी आपके पास समय हो तो मैं कहता हूँ।”

“अभी बोलो, समय है। बाद में समय होगा या नहीं मैं नहीं कह सकता।”

पृथ्वीधर ने बोलना आरंभ किया, “आपने हमें बताया था कि सिन्धु देश में मुसलमानों की क्रूरता के कारण हमारे लोगों ने धर्मपरिवर्तन कर लिया। पता पड़ा है कि केरल में यही काम कुछ लोग धोखे से कर रहे हैं।”

कुतूहल से गुरु जी ने पूछा, “वे लोग कौन हैं? किस प्रकार से धोखा कर रहे हैं?”

“लगभग सात सौ वर्ष पहले सिरिया नामक देश में क्रिस्तान नाम के लोग रहते थे। उनके शत्रु उन्हें सताते थे इसलिये वे केरल के समुद्रतट पर आकर बस गये। सामुद्रिय नामक राजा ने उन्हें आश्रय दिया और उनकी इच्छानुसार उन्हें अलग से बसने की जगह दी। धीरे-धीरे उनकी माँगे बढ़ती गयीं। ग्रामपंचायत में उनकी गणना एक पृथक् वर्ग के रूप में होने लगी। उनको हमारे लोगों के समान अधिकारों का ताम्रपत्र दिया गया! उनको जो जगह दी गयी थी वहाँ एक तालाब था। स्नान करने के लिये और पानी पीने

के लिये हमारे लोग उसी तालाब का उपयोग करते थे। कुछ दिनों बाद वहाँ क्रिस्तान भी आने लगे। धीरे-धीरे वे हमारे लोगों से कहने लगे, “हम भारतीय नहीं हैं क्रिस्तान हैं। हम यहाँ स्नान करके जल पीते हैं। आप भी यही जल पी रहे हैं। इसलिये, आप भी क्रिस्तान बन गये हैं।”

हमारे सीधे-साधे लोगों के मन में खलबली मच गयी। यह समाचार सब तक पहुँच गया। तब वहाँ के ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया! तब से जितने लोगों ने तालाब के जल का उपयोग किया था सब के सब क्रिस्तान बन गये।”

यह कथा सुनकर शंकर खेदपूर्वक हँस पड़े। “आगे क्या हुआ? बताओ।”

वहाँ के क्रिस्तानों के उस समय दो दल थे। एक समूह के लोगों के इस व्यवहार की निन्दा करके दूसरे समूह ने अपने धर्मगुरु को एक पत्र लिखा कि, ‘वे सीधे-साधे लोगों को धोखे से क्रिस्तानमत में परिवर्तित करके उनसे पैसा इकट्ठा कर रहे हैं। उनको यह बताया ही नहीं गया है कि ईसाई धर्म क्या है। अगर उनको रोका नहीं गया तो ईसाई धर्म की बड़ी बदनामी होगी।’² जब निन्दित समूह को यह बात पता पड़ी तो उन्होंने धन इकट्ठा करना छोड़ दिया। तब हमारे लोग खेद में पड़ गये कि ‘हम लोग न तो क्रिस्तान हैं न भारतीय हैं। आखिरकार ईसाइयों के धर्मगुरु ने उनके पत्र का उत्तर इस प्रकार दिया, ‘चाहे धोखा करो या जबरदस्ती करो, कुछ भी करो, वह मुख्य नहीं है। परन्तु किसी भी प्रकार धर्म-परिवर्तन करते रहो और उनसे धन लेते रहो।’ तब से, धोखे के साथ-साथ जबरदस्ती करके भी धर्मपरिवर्तन किये जा रहे हैं। अब तक हमारे हजारों लोग क्रिस्तान बन चुके हैं। धन भी दे रहे हैं।’³

शंकर जी बोले, “आपकी बात सुनकर मुझे समझ नहीं आ रहा है कि मैं रोऊँ या हँसूँ। परन्तु इस सम्बन्ध में हम इस समय कोई भी कदम उठाने में शक्त नहीं हैं; इसलिये अभी इस विषय को वैसे ही रहने दीजिये। परन्तु देखो कि अभी तक के हमारे कार्य में माँ भगवती ने कितनी कृपा की है। आज हमारे पास चारों वेदों से एक-एक शिष्य है। हस्तामलक ऋग्वेदी हैं; सुरेश्वर यजुर्वेदी, पद्मपाद सामवेदी हैं और तोटक अथर्ववेदी हैं! भगवती की यह लीला क्या कहती है बोलो?”

पृथ्वीधर ने मुस्कराते हुये कहा, “देश की चारों दिशाओं की सूचना दे रही है।”

“बिल्कुल ठीक कहा। अब सुरेश्वर दक्षिण को देख रहे हैं। यदि हस्तामलक पूर्व में, पद्मपाद पश्चिम में और तोटक उत्तर में सुस्थित हो जायेंगे तो व्यवस्था पूर्ण हो जायेगी न!

“गुरु जी! यह अद्भुत चिन्तन है।”

“अब प्रश्न यह है कि तीनों दिशाओं में उपयुक्त स्थान कौन से हैं? पश्चिम में द्वारका, और उत्तर में बद्रीनाथ इनका मैं चयन कर चुका हूँ। परन्तु पूर्व भाग में मैंने संचार नहीं किया है। वहाँ स्थान कौन सा हो? तुम्हारा क्या ख्याल है?

“आप स्थान के लक्षण बताएँगे तो विचार कर सकते हैं।”

“लोगों को उस स्थान का परिचय होना चाहिये। तीर्थस्थल हो तो उत्तम होगा क्योंकि वहाँ लोगों के रहने की व्यवस्था होती है।”

“पूर्व में कामरूप में जगह ढूँढी जा सकती है; वहाँ ध्रुव ने तप किया था।”

“वह उचित स्थान है परन्तु वहाँ पहुँचना लोगों के लिये बहुत कष्टकारी है।”

“तब जगन्नाथ स्वामी जी का क्षेत्र पुरी ठीक रहेगा क्या?”

“बहुत अच्छा रहेगा। अगर चारों दिशाओं में आम्नाय पीठों की स्थापना हो जायेगी तो सम्पूर्ण देश ही एक यज्ञवेदी की तरह हो जायेगा। आप पुरी जाने की तैयारी करिये। वहाँ वे विद्वान् ब्राह्मणों और राजा से बात करके उचित स्थान का निश्चय करिये। यह सब करने में आपको कितना समय लगेगा?”

“वहाँ पहुँचने में मुझे एक महीना लगेगा। इसका अर्थ यह है कि इस कार्य में लगभग दो से तीन महीने लगेंगे।”

“तीन या चार महीने भी होने दो। अपनी यात्रा के लिये यात्रियों के रथों और गाड़ियों का उपयोग करो। केवल पैदल चलने की ही आवश्यकता नहीं

हैं। पद्मपाद जी, हस्तामलक जी और तोटक जी के साथ मैं भी चार महीनों के भीतर वहाँ पहुँचूँगा। तब तक आपका कार्य पूरा हो जायेगा न?”

“ भगवन्! आपने जिस कार्य का संकल्प लिया है वह तो पूरा होगा ही। मुझे आशीर्वाद देकर भेजिये।”

पृथ्वीधर जी जगन्नाथ पुरी के लिये रवाना हो गये।

अगले दिन शंकर जी ने अपने चार संन्यासी शिष्यों को सम्बोधित करके कहा,

“ आपको कुछ मुख्य विषयों से अवगत कराने का समय आ गया है। ध्यान से सुनिये। ‘पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः’, मोक्षप्राप्ति से बड़ा जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। किन्तु मोक्ष की साधना शान्तिरहित वातावरण में सम्भव नहीं है और शान्ति का आधार है धर्म। धर्म, कर्म के रूप में व्यक्त होता है। कर्म का आधार है शास्त्र- ‘तस्माच्छस्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ’। इस कर्म के दो अंग हैं- व्यष्टिकर्म और समष्टिकर्म। व्यष्टिकर्म होता है अपने इष्ट की प्राप्ति के लिये और अनिष्ट के परिहार के लिये। कुएँ खुदवाना, वृक्षों को बोना इत्यादि पूर्तकर्म समष्टिकर्म होते हैं। समष्टिकर्म से दूसरों का तुरन्त लाभ मिलता है और स्वयं को कालक्रम से मिलता है। स्वाध्याय व्यष्टिकर्म है और प्रवचन समष्टिकर्म। ब्राह्मण को स्वाध्याय और प्रवचन कभी नहीं छोड़ने चाहिये। और, प्रवचन का अधिकार तो केवल ब्राह्मण को है। इतना ही नहीं, ये ही दोनों ब्राह्मण के लिये अतिश्रेष्ठ तप हैं - ‘स्वाध्यायप्रवचने वेति ना को मौद्गल्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः’।”

“ क्या कारण है कि यही दोनों श्रेष्ठ तप हैं? सम्पूर्ण समाज का योगक्षेम इस तप के आधार पर ही स्थित है। जब तक यह सुचारु रूप से चलता रहता है तब तक समाज में शान्ति रहती है। इसके कुण्ठित होने पर शान्ति भंग हो जाती है। इसीलिये अतिश्रेष्ठ है। इसी प्रकार क्षत्रिय का तप है प्रजापालन और युद्ध से पीछे नहीं हटना। वैश्य का तप है न्यायपूर्वक व्यापार करना। सबके लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करके समाज का पोषण करना शूद्र का तप है। लेकिन प्रत्येक वर्ण को अपने-अपने तप में प्रवृत्त करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण का है। इतिहास साक्षी है कि ब्राह्मण के इसी कर्म के कारण यह धर्म अनादिकाल से सम्प्रदायरूप चला आया है।”

“इस प्रकार प्रवचन किसी एक वर्ण, किसी एक विषय या किसी एक समय तक ही सीमित नहीं है। इतना होने पर भी कोई एक ही व्यक्ति सबको, सब विषयों पर, सब समय प्रवचन नहीं कर सकता। परन्तु अपने आस-पास स्थित सभी वर्णों के लोगों को उनके अधिकार और संस्कार के अनुसार सभी विषयों का ज्ञान देना चाहिये। इस पुण्य भूमि में प्रधानतया वैष्णव, सौर, शैव, शाक्त, गणपत्य और कौमार हैं। यह सब भगवान् के भक्त ही हैं—‘सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति’। परन्तु कुछ लोगों की रुचि तामसिक पूजा में होती है। उनकी जिस देवता में श्रद्धा है उस श्रद्धा में बाधा डाले बिना उन्हें सात्त्विक पूजा के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। उसी प्रकार यह देखना चाहिये कि अन्य देवताओं के विषय में भी द्वेष न हो। अतः, विष्णु, सूर्य, शिव, शक्ति, गणपति सबका आयतन रूप में स्थापन करना सिखाना चाहिये। यह पुराणों के श्रवण से साध्य होता है। पुराणों का श्रवण केवल उनके लिये नहीं होता जिनका वेदों में अधिकार नहीं है, बल्कि सभी वर्णों के लिये होना चाहिये। ‘श्रावयेत् चतुरो वर्णान्’ चारों वर्णों को पुराणों का श्रवण कराना चाहिये, ऐसा व्यास जी कहते हैं। अतः, अलग-अलग शास्त्रों के विद्वानों को तैयार करने के लिये और उनके द्वारा सब वर्णों को प्रवचन कराने की आप लोगों द्वारा व्यवस्था होनी चाहिये। आपको प्रयत्न करके तेजस्वी, वर्चस्वी और दूरदर्शी शिष्यों को प्राप्त करना चाहिये। ऐसे लोगों को दृष्टिगोचर करने के लिये आपको निरन्तर संचार करते रहना चाहिये।”

“मुझे ऐसा लगता है कि आगामी दिनों में क्षोभ बढ़ता जायेगा; सभी वर्णों के लोगों में तमोगुण बढ़ रहा है।

इसको नियन्त्रण करने के लिये आपको प्रयत्न करने चाहियें। आप चारों ज्ञानी ही हैं। आपको श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं है। गुणातीत स्वरूप में स्थित होने पर भी आप सत्त्वगुण का आश्रय लेकर इस महान् कार्य में प्रवृत्त होइये। लोगों को ऐसा नहीं लगना चाहिये कि आप केवल वेदान्त के लिये ही हैं। कर्म में आसक्त अज्ञानियों को सत्कर्म करने की प्रेरणा दीजिये। तमोगुण का नाश केवल शास्त्रीय नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा ही संभव है। आप चारों वर्णों के मार्गदर्शक बनिये। सभी साधकों

को आपसे लाभ मिले। आप चारों दिशाओं में रहकर सबके प्रेम और श्रद्धा के पात्र बनकर जगद्गुरु बनिये।”

शंकर जी के अपनी बात समाप्त करते ही सब शिष्यों की आँखों से आँसू बहने लगे। ‘क्या गुरु जी हमसे दूर हो जायेंगे?’, इस शंका ने उन्हें शोक में डुबो दिया। शंकर के प्रेम के सामने उनका आत्मज्ञान पराजित हो गया।

शंकर के पुरी जाने का समय आ गया। उन्होंने पहले उभय भारती देवी के पास जाकर साष्टांग नमस्कार किया। वे तुरन्त पीछे हटीं और बोलीं, “यह आप क्या कर रहे हैं? मुझे आपको नमस्कार करना चाहिये ना कि आपको मुझे।”

“माँ! आप ही इस स्थल की देवी शारदा हैं। मैं आपका पुत्र हूँ। अब प्रस्थान कर रहा हूँ। कृपया आशीर्वाद दीजिये।”

“फिर कब आयेंगे?”

शंकर केवल मुस्कराए और वहाँ से चले गये। उभय भारती के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। ‘मुझे पता नहीं पड़ रहा कि यह मुझसे बहुत प्रेम करता है या बिल्कुल भी प्रेम नहीं करता! अन्त तक यह पहेली ही रहा न! आखिर यह बालक कौन है? हमेशा काम काम, घूमना घूमना! अहो! यह कितना परिश्रम करता है!’, अपने आँचल से मुँह ढँककर रोने लगी। “हाय! यह मेरे लिये बेटे से भी ज्यादा हो गया है न! लेकिन इस बालक में मेरा मोह गलत है। गलत है तो क्या हुआ! वह मेरी आत्मा ही तो है न! इसीलिये मुझे यह मोह हो रहा है नहीं, नहीं। यह मोह गलत ही है। इसमें भेदभाव है। यह ठीक नहीं है। इससे जो तत्त्व मैंने सीखा है उसे अपने जीवन में उतार लेना चाहिये। अब से मैं भारती हूँ यह भाव छोड़कर अपनी आत्मा में ही रहूँगी”, ऐसा अपने आप से बोलते हुये उन्होंने अपने आँसू पोंछ डाले।

शंकर तब तक सुरेश्वर के पास आ गये थे। उन्होंने तुरन्त उठकर गुरु को नमस्कार किया।

“मैं प्रस्थान कर रहा हूँ। अब से हस्तामलक पुरी में, पद्मपाद द्वारका में और तोटक बदरीनाथ में रहेंगे। मुझे अब पुरी जाना है,” इतना कहकर,

रोते हुये सुरेश्वर को एक भी शब्द कहने का अवसर न देकर, तीनों शिष्यों के साथ वे चल पड़े। उनके जाने का समाचार शृङ्गेरी में किसी को भी नहीं था। वह हमेशा ऐसे ही थे। जब वह किसी गाँव में पहुँचते थे तो हजारों लोग उनके स्वागत के लिये खड़े होते थे। परन्तु जाते समय वह बिना किसी को सूचना दिये प्रस्थान करते थे।

शंकर के प्रस्थान करने के तीन दिन बाद उभय भारती देवी ने समाधि में बैठे-बैठे ही अपना शरीर त्याग दिया। उनकी आत्मा शृङ्गेरी की शारदा माता में लीन हो गयी।

• • •

-
1. R.G.Pothan : Syrian Christians of Kerala (1963) – p. 22 & p. 32-33;
J.M.Lord : the Jews in India and The Far East (1907) – p. 62-63
 2. K.A.Nilakantha Sastri : History of South India (1958) – p. 429
 3. Francis Day : The Land of the Perumals (1863) – p. 234

Maha Parvati

अध्याय बारह

शृङ्गेरी से पुरी

शंकरपरिवार के प्रवेश करते ही पुरी के राजा ने नगर के द्वार पर पूर्णकुम्भ से उनका स्वागत किया। जगन्नाथ मन्दिर के ब्राह्मणों ने वेदघोष किया। ढोल-नगाड़े बज उठे। गगनभेदी जयकार हुयी। राजा ने शंकर को पालकी दिखाकर उसमें बैठने के लिये कहा। परन्तु शंकर केवल उसको छूकर पैदल ही चलने लगे। महल के सामने एक विशाल प्रांगण में सभा का आयोजन किया गया था। पहले महाराज ने शंकर जी की पादपूजा की। बाद में पृथ्वीधर ने शंकर का परिचय दिया और तत्पश्चात् शंकर का आशीर्वचन हुआ।

अगले दिन से ही पाठ और प्रवचन शुरू हो गये। उनके बीच में विद्वान् श्रोता अपने शास्त्रों के अध्ययन के आधार पर प्रश्न पूछा करते थे। यह युवा संन्यासी उनकी सब शंकाएँ दूर करता था। इससे प्रभावित होकर राजा ने अपने राज्य के सभी विद्वानों को इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया। शंकर जी भी यही चाहते थे।

एक दिन एक युवक ने प्रश्न किया “गुरु जी! भगवान् ने जगत् की सृष्टि क्यों की?”

“जीवों के भोग और मोक्ष के लिये। जगत् यदि न हो तो जीव के लिये भोग और मोक्ष दोनों ही साध्य नहीं होंगे।”

“जीवों की सृष्टि तो जगत् की सृष्टि के बहुत समय बाद हुयी। तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह सृष्टि जीवों के लिये हुयी है?”

“ऐसा नहीं है। जीव न जन्म लेता है न मरता है। हमेशा रहता है। ‘न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः’, भगवद्गीता का यह वाक्य सुना है न?”

“सुना है। किन्तु समझा नहीं है। मैं समझता था कि जीव पहले नहीं होता, नया जन्म प्राप्त करता है और जन्म लेकर फिर मृत्यु को प्राप्त करता है।”

“यह ठीक नहीं है। शरीर का जन्म और मरण प्रत्यक्ष है। किन्तु उसके अन्दर रहने वाला जीव न जन्म लेता है न मरता है। जीव तो शरीर से भिन्न ही है।

“वह कैसे?”

“देखो कैसे। आप सोते हो घर में परन्तु स्वप्न में और ही कहीं घूमते हो। उस समय अगर आपके शरीर पर साँप भी रेंग जाये तो आपको पता नहीं पड़ेगा। इसलिये, आप शरीर से अलग हैं यह उस समय स्पष्ट हो जाता है न?”

“सचमुच। आपके उत्तर ने मुझ पर महान् उपकार किया है। क्योंकि यह मेरा अपना अनुभव है इसलिये इसे नकारा नहीं जा सकता। किन्तु एक संशय है। शरीर से भिन्न होने पर भी शरीर के साथ ही मैंने भी जन्म प्राप्त किया ऐसा क्यों नहीं हो सकता?”

“जीव उस प्रकार मरणशील नहीं है। कैसे, देखो। कोई भी हो, वह वही काम कर सकता है जिसे पहले सीख चुका हो। जिसे नहीं सीखा गया है वह काम नहीं कर सकता। किन्तु नवजात शिशु पैदा होते ही स्तनपान करने लगता है। उसने अभी-अभी तो नहीं सीखा है फिर भी करता है। दूसरे प्राणियों में भी इसी प्रकार होता है। अण्डे से बाहर निकलते ही छिपकली मक्खी को पकड़कर निगल जाती है। एक नवजात बिच्छू को भी डंक मारना आता है।”

“यह सब कैसे हो सकता है? पूर्वजन्मों में सीखा हुआ जीव ही इस जन्म में भी कर सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस शरीर के जन्म से पहले जीव दूसरे शरीर में रहता था।”

“किन्तु अब एक सन्देह है। अभी मैं जो काम कर रहा हूँ उसे मैंने इसी शरीर से सीखा है। यह सीखने का अनुभव होता है बुद्धि में। वह बुद्धि होती है इसी शरीर में। पूर्वजन्म में सीखा गया अनुभव तब के शरीर के नाश होने पर नष्ट नहीं होता क्या? वह अनुभव इस शरीर में कैसे आता है?”

“आपका प्रश्न अच्छा है। इसका उत्तर एकाग्रता से सुनो। यह स्थूल शरीर जड़ है- इसमें स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की क्षमता नहीं है। पाँच

कर्मेन्द्रियाँ इसके द्वारा कर्म कराती हैं। सुविधा के लिये उन सबको मिलाकर वाक् कहते हैं; और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन को मिलाकर मन कहते हैं। और पाँचों प्राणों को प्राण ऐसा कहते हैं। ये तीनों शरीर से अलग हैं। जब इन तीनों द्वारा शरीर से कोई कर्म कराया जाता है तब यह क्रिया इन तीनों के ऊपर ही आकर प्रतिक्रिया करती है। अगर अच्छी क्रिया करायी गयी होती है तो अच्छी प्रतिक्रिया होती है, अगर दुष्ट क्रिया करायी गयी होती है तो प्रतिक्रिया भी दुष्ट ही होती है। अच्छी क्रिया अपने विरुद्ध दुष्ट प्रतिक्रिया को नष्ट करती है और दुष्ट क्रिया अपने विरुद्ध अच्छी प्रतिक्रिया को नष्ट करती है। मरणसमय निकट आने पर मनुष्य बिस्तर पकड़ लेता है। वाक्, मन और प्राण में बाधा पड़ने लगती है। अभी तक वाक् पर जो विविध प्रतिक्रियाएँ हुयी थीं उनमें से कुछ को इकट्ठा करके वाक् अपना व्यवहार छोड़कर घनरूप को प्राप्त होती है। इस घनरूप की आकृति को वाग्वृत्ति कहते हैं। मन अभी तक व्यवहार कर रहा होता है। वाग्वृत्ति उस मन में जा मिलती है। उस समय मृत्युग्रस्त व्यक्ति देख सकता है और सुन सकता है परन्तु बोल नहीं सकता। इसके बाद मन की बारी आती है। वह अब तक अपने ऊपर हुयी प्रतिक्रियाओं में से कुछ को इकट्ठा करके अपना व्यवहार छोड़कर घनरूप को प्राप्त होता है। उसे मनोवृत्ति कहते हैं। यह जाकर प्राण में मिल जाती है। तत्पश्चात् वाक् और मन के समान प्राण भी अपने ऊपर हुयी प्रतिक्रियाओं में से एक अंश को ग्रहण करके प्राणवृत्ति को प्राप्त होकर व्यवहार छोड़ देता है।”

“वृत्ति क्या होती है?”

“वाग्वृत्ति, मनोवृत्ति और प्राणवृत्ति अगले शरीर के वाक्, मन और प्राण की बीजरूप होती हैं। इनके अनुसार ही अगला जन्म होता है। इस प्रकार पिछले जन्म से इस जन्म में लाये गये कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं।”

“इन वृत्तियों में प्रतिक्रियाओं का अगर एक ही अंश लिया होता है तो बाकी अंशों का क्या होता है?”

“बाकी अंश भविष्य में और किसी जन्म में काम आने के लिये वाक्, मन और प्राण में ही बचा रहता है। कर्म के इस भाग को संचित कर्म कहते

हैं। इस जन्म में किये कर्मों को आगामी कर्म कहते हैं। इस प्रकार वाग्वृत्ति को घेरकर मनोवृत्ति और उसको घेरकर प्राणवृत्ति रहती है। जीवात्मा इनके अन्दर होता है। अंततः यह प्राणवृत्ति शरीर की गरमी के साथ नौ द्वारों में से किसी एक द्वार में से निकल जाती है। जीवात्मा भी उसके साथ निकल जाता है। अब तक जो शरीर सुन्दर था वही भयानक लगने लगता है। जिस शरीर का स्वागत बन्धु और मित्र सब करते थे, अब उसी शरीर को पत्नी देखने से भी डरती है।

यावत्पवनो निवसति देहे तावत्पृच्छति कुशलं गेहे।

गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये ॥

बड़ी आशा से, बड़े परिश्रम से कमाया सबकुछ, मरने पर छोड़कर जाना पड़ेगा, यह निश्चित होने पर भी आशा नहीं छोड़ी जाती।

अङ्ग गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥

जो अपने को कभी नहीं छोड़ता है, सदा अपने साथ रहता है, उस परमात्मा का चिन्तन कभी किया क्या? बचपन खेल में निकल गया। जवानी काम-वासना में। बुढ़ापा चिन्ता में बीत गया। मैं जन्म प्राप्त करके किसलिये जी रहा हूँ यह एक क्षण भी विचार नहीं किया न?

बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीसक्तः ॥

वृद्धस्तावत् चिन्तासक्तः परे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः ॥

हर जन्म में दूसरे-दूसरे पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री होते हैं। उस समय उन-उनमें मोह होता है। बाद में वे कौन? मैं कौन? इस बन्धुपन का क्या अर्थ है?

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।

कस्य त्वं वा कुत आयातः तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः ॥

हाय! यही है न जीवन!

बाद में शरीर को जला देते हैं या फिर दफना देते हैं। किन्तु इस शरीर में जो जीव रहता है वह वाक्, मन और प्राण की वृत्तियों से युक्त होकर दूसरों लोकों को जाता है। यहाँ जिन कर्मों के फलों का भोग नहीं कर सकता,

उनको उन लोकों में भोगता है। अगर पुण्यफल होता है तो स्वर्गादि में जाता है और पापफल होता है तो नरकादि में जाता है। ये पुण्य-पाप भी वाक्, मन और प्राण की वृत्तियों के अन्दर होते हैं। वहाँ के फलों का अनुभव करने के लिये वह अतिवाहिक नाम का एक विशेष शरीर प्राप्त करता है। इन पुण्य-पापों में जो कम होता है उसे पहले अनुभव करता है और जो अधिक होता है उसे बाद में भोगता है। भोगने से जब वे पुण्य-पाप समाप्त हो जाते हैं तो बचे हुये कर्मों को भोगने के लिये फिर पृथ्वी पर आता है।”

“क्या प्रमाण है कि ऐसे लोक होते हैं?”

“शास्त्र ही प्रमाण हैं। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे लोक होते हैं। कैसे, देखो। यह सब जानते हैं कि स्वप्न में जब जीव स्थूल शरीर से अलग होता है तो विलक्षण स्थलों में विलक्षण अनुभवों को प्राप्त करता है। उसी के समान मरने के बाद भी शरीर त्यागकर वाक्-मन-प्राण से युक्त होने पर सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है।”

“स्वप्न का जगत् तो कल्पनामात्र ही है न?”

“स्वप्नलोक में अनुभव किये गये सुख-दुःख तो कल्पना नहीं हैं न? यदि बुरे स्वप्न आते हैं तो कोई भी उनका परिहार करना चाहेगा। अब आगे देखो। पृथ्वी पर अगला जन्म इस प्रकार प्राप्त होता है:- जीव वर्षा द्वारा पृथ्वी पर आकर धान में प्रवेश करता है। वहाँ से अपनी वाक्, मन और प्राण की वृत्तियों के अनुसार शरीर प्राप्त करने के लिये योग्य पिता को प्राप्त करता है। उसके लिये कभी-कभी प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है। इस बीच अगर उस धान को कोई और खा लेता है तो वह पचने के बाद मल-मूत्र के द्वारा बाहर आ जाता है। इस प्रकार घूमते हुये वह समयानुसार पिता के शरीर में प्रवेश करता है। वहाँ से माता के शरीर में। उसके गर्भ में शुक्ल-शोणित के सम्मिलन से शरीर की उत्पत्ति होनी शुरू होती है। घनीरूप प्राणवृत्ति छठे सप्ताह में खुल जाती है और सक्रिय होती है। अठारहवें सप्ताह में मनोवृत्ति खुलती है। तब से वह गर्भ में सुख-दुःख का अनुभव करता है। नौ मास का गर्भवास समाप्त करके बाहर आने पर ही वाग्वृत्ति पूरी तरह से सक्रिय होती है। मरते समय जो वृत्तियाँ बनने का क्रम था, जन्म के समय वृत्तियाँ उससे

उल्टे क्रम में सक्रिय होती हैं। प्राणवृत्ति के अनुसार पुरुष, महिला, नपुंसक, रोगी या स्वस्थ होता है। मनोवृत्ति के अनुसार पागल, मूढ़, सामान्य, मेधावी या योगी होता है। वाग्वृत्ति के अनुसार गूँगा, तोतला, बातूनी या मौनी होता है और जन्म प्राप्त करके बड़ा होता है। एक के समान दूसरा नहीं होता। क्या आश्चर्य है! हरेक की स्थिति का कारण उसका कर्म ही है। बड़े होते हुये, दुबारा कर्म करके उन पाप-पुण्यों के अनुसार वृत्ति प्राप्त करके फिर जाता है, फिर आता है। इस प्रकार जन्म-मरण होते हैं।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

इह संसारे बहुदुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ॥

अनादि काल से भटकते हुये इस चक्र से निकलने का एक ही मार्ग है: भगवान् की कृपा प्राप्त करना। यदि यह नहीं किया तो जीवन मूढ़साहस ही रहा। मैंने एक दिन देखा कि गंगातट पर बैठा एक नब्बे वर्ष का वृद्ध डुकृञ् करणे इन व्याकरण के सूत्रों को रट रहा था। मूढ़साहस का यह उदाहरण है।

सब बोलो:

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

सम्प्राप्ते सन्निहिते काले न हि न हि रक्षति डुकृञ् करणे ॥

सबने भक्तिपूर्वक श्लोक बोला। नामस्मरण समाप्त हुआ। फिर भी कोई नहीं उठा। बहुत देर तक सभा में गौढ़ मौन छाया रहा। फिर धीरे से उठकर उन्होंने गुरु जी को नमस्कार किया और चले गये।

सभा में एक दिन गुरु जी ने हृदयंगम रीति से सबको धर्म का स्वरूप समझाकर, धर्म की रक्षा के लिये पुरी में पूर्वाम्नाय पीठ की स्थापना का प्रस्ताव रखा। हस्तामलक आचार्य का परिचय कराया। महाराजा ने शंकर के इस अभिप्राय का पूर्ण रूप से अनुमोदन किया और पीठस्थापना के लिये आदेश जारी कर दिया। सम्बन्धित अधिकारी पृथ्वीधर के साथ विचार-विमर्श करके अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो गये। शीघ्र ही पुरी में पीठ की स्थापना हो गयी। वहीं पृथ्वीधर को संन्यासदीक्षा देकर कुछ दिनों बाद पद्मपाद, तोटक और पृथ्वीधर के साथ शंकर जी ने द्वारका के लिये प्रस्थान किया। हस्तामलक आचार्य पुरी में ही बस गये।



अध्याय तेरह पुरी से द्वारका

द्वारका परिचित स्थल था। वहाँ गोविन्दभगवत्पाद का शिष्यसमूह पहले से ही इस कार्य में निरत था। लगभग 12-13 वर्ष बाद शंकर के पुनर्दर्शन से वहाँ के लोगों में अत्यधिक उत्साह उमड़ आया। वहाँ पश्चिमायनाय पीठ की स्थापना बड़ी सुगमता से हुयी। पद्मपाद जी पश्चिम मण्डल के जगद्गुरु हुये। द्वारका से अपने दो शिष्यों के साथ शंकर जी का अगला पड़ाव सोमनाथ था। वहाँ भी बड़ी संख्या में लोग एकत्रित थे। शंकर जी ने वहाँ कुछ दिन रुकने का निश्चय किया। बहुत घरों से भिक्षा के लिये निमन्त्रण आये। सब घरों में जाने के लिये तो समय नहीं था, इसलिये चुनना पड़ा। शंकर ने अपने शिष्यों से कहा: “कल हम सबकी भिक्षा यज्ञेश्वर दीक्षित जी के घर में है। उनका देवल नाम का एक पौत्र है, उसकी आयु इस समय लगभग पन्द्रह वर्ष की होगी। हम जब उनके घर जायेंगे तो आप उस पर ध्यान देना।”

अगले दिन तीनों वहाँ भिक्षा के लिये गये। दीक्षित जी ने शंकर के पैर धोये। उसके बाद तोटक और पृथ्वीधर को भी बुलाया। उन दोनों ने पैर धुलवाने से मना कर दिया और स्वयं अपने पैर धोकर अन्दर गये। वहाँ तीन पत्तों को लगा देखकर वे बोले, “पहले गुरु जी का भोजन होने दीजिये, हम दोनों उसके बाद सबके साथ भोजन करेंगे”, और दोनों पत्ते हटाने के लिये कहा। यज्ञेश्वर जी बोले,

“हम म्लेच्छों के शासन में पले-बड़े हैं इसलिये किसी चीज का क्रम नहीं जानते, हमें क्षमा करें।”

गुरु जी की भिक्षा हुयी। तत्पश्चात् जब सब भोजन के लिये बैठे तो पृथ्वीधर ने देवल को भी अपने पास बैठने के लिये बुलाया। परन्तु उसने यह कहकर मना कर दिया कि “आपके भोजन के बाद मैं करूँगा। मैं आपको परोसूँगा।” दूसरे भी अपनी पत्तल छोड़कर खड़े हो गये! उन दोनों के भोजन

के बाद ही तीसरी पंगत में बाकी सब का भोजन हुआ। इस प्रसंग के द्वारा पृथ्वीधर और पद्मपाद का देवल से परिचय हुआ।

भोजन के बाद सब शंकर के हितवचन सुनने के लिये बैठ गये। “गुरु जी! क्या मैं कुछ प्रश्न पूछ सकता हूँ?”

“पूछो।”

महाभारत में द्रौपदीवस्त्रापहरण का प्रसंग है। शरशय्या पर लेटे हुये जिस भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश दिया, वही भीष्म वस्त्रापहरणप्रसंग के समय चुप बैठे रहे; इसका क्या कारण है? क्या उन्होंने जो किया वह ठीक था या फिर गलत था?”

“देवल! तुमने जो कहा है केवल उस एक प्रसंग में नहीं, बल्कि और बहुत प्रसंगों में भी वे चुप रहे। वह गलत ही था, ठीक नहीं। आपका प्रश्न है कि ऐसा मनुष्य धर्म पर कैसे उपदेश दे सकता है? धर्म का ज्ञाता होने पर भी, त्यागी होने पर भी, अत्यन्त मेधावी होने पर भी, जब मौका आया तो उन्होंने धर्म का एकदेशीय निश्चय करके तदनुसार व्यवहार किया। यही उनका दोष था। फिर भी उनमें वंचना नहीं थी। विधि ने उनके द्वारा गलतियाँ करायीं। इसलिये, उनके द्वारा उपदिष्ट कर्म स्वीकार्य होने पर भी, उनके दोषों का अनुसरण नहीं करना चाहिये। ‘यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतरानि’ यह सुना है न?”

“दूसरा प्रश्न - भीष्म और राम जी का त्याग दोनों ही पिता के लिये थे। उनमें भीष्म का त्याग राम ही अपेक्षा अधिक तीव्र था। फिर भी, पिता की आज्ञा-पालन में राम ही आदर्श माने जाते हैं, भीष्म नहीं, क्यों?”

“भीष्म के त्याग से अधर्म को प्रोत्साहन मिला और राम के त्याग से धर्म को। भीष्म का दोष विधिवश हुआ। यदि वह दोष नहीं करते तो दुष्टों का पूर्णरूप से नाश नहीं होता। फिर भी, दोष तो दोष ही है। इसीलिये, पिता की आज्ञा-पालन में भीष्म आदर्श नहीं हो सकते।”

“और एक प्रश्न-विश्वामित्र स्वयं धनुर्विधा में निपुण थे फिर भी अपने यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों मारीच और सुबाहु को मारने के लिये उन्होंने राम और लक्ष्मण को, जो कि बालक थे, बुलाया। इसके पीछे धर्म की क्या सूक्ष्मता है?”

“विश्वामित्र ब्राह्मण थे। वह शस्त्र नहीं उठा सकते थे। उनके यज्ञ की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्तव्य था।”

“यदि राजा यज्ञ की रक्षा करने में असमर्थ हो तो?”

“उस अनिवार्य सन्दर्भ में ब्राह्मण भी शस्त्र उठा सकता है; सब वर्णों के लोग उठा सकते हैं।”

“यज्ञरक्षा के लिये दशरथ जी स्वयं आने को तैयार थे। फिर भी विश्वामित्र जी बालक राम-लक्ष्मण को ही क्यों ले गये?”

“विश्वामित्र जी के पास दूर-दृष्टि थी। दशरथ जी मारीच और सुबाहु को मार तो सकते थे परन्तु बात इतने तक तो सीमित नहीं रहने वाली थी। इसके आगे और तीव्र परिणाम होने वाले थे। उनका सामना करने में दशरथ समर्थ नहीं हैं यह विश्वामित्र जी जानते थे। ब्राह्मण के पास इस प्रकार की दूर-दृष्टि होनी चाहिये।”

“यदि ब्राह्मण भी हथियार उठा सकते हैं, तो क्या ‘कृपा, द्रोण और अश्वत्थामा द्वारा हथियार उठाना सही था?”

“नहीं! उन्होंने अधर्म के पक्ष में युद्ध किया। ब्राह्मण केवल आत्मरक्षा के लिये या राजा के धर्मरक्षण में असमर्थ होने पर ही हथियार उठा सकता है।”

“धर्म और अधर्म का निश्चय कैसे होता है?”

“यह जटिल प्रश्न है। इस पर लम्बी चर्चा करके निश्चय करना पड़ेगा। फिर भी संक्षेप में बताता हूँ, ध्यान से सुनो। मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है। अपना हो या दूसरे का हो, प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हो, अभी हो अथवा बाद में हो, जो कर्म मोक्षमार्ग में विघ्न डालता है वह अधर्म है और जो कर्म मोक्ष में सहायक होता है वह धर्म है। इस वाक्य के बारे में आप जितना गंभीर चिन्तन करेंगे उतनी स्पष्टता से आपको धर्म का स्वरूप मालूम होता जायेगा।”

“आपने कहा कि धर्म और अधर्म का निश्चय मोक्ष की सापेक्षता से होता है। अगर कोई मोक्ष को ही सापेक्ष कहे तो?”

“मोक्ष सापेक्ष नहीं है यह समझ लो। अपने स्वरूप में स्वयं रहना ही मोक्ष है। वही है नित्य और निरतिशय आनन्द। इस आनन्द की ही सब लोग

इच्छा करते हैं; अतः, यही है जीवन का ध्येय। और अपना स्वरूप हरेक का अलग-अलग नहीं होता; सबका स्वरूप एक ही है। अतः, यह सापेक्ष नहीं है निरपेक्ष है। जो कोई भी हो, अपने स्वरूप से च्युत होने पर ही विषयानन्द प्राप्त करता है, जो कि सापेक्ष है; आगन्तुक है; इच्छा से प्राप्त किया जाने वाला है; श्रम से प्राप्त किया जाने वाला है। उसकी प्राप्ति से इच्छा और भी बलवत्तर होती जाती है और अन्त में दुःख देती है। यह सच है कि घाव होने पर खुजली करने से सुख प्राप्त होता है। फिर भी, इस सुख के लिये कोई भी समझदार व्यक्ति यह इच्छा नहीं करेगा कि घाव हो जाये या जो घाव पहले से है वह बना रहे। इसलिये, कामेच्छा विवेकी का लक्षण नहीं है। इसके विरुद्ध आनन्द सहज है, इच्छा और श्रम से प्राप्त किया जाने वाला नहीं है। उसका दुःख से सम्बन्ध ही नहीं है।”

“गुरु जी! मैं इन विषयों का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहता हूँ। कैसे आगे बढ़ूँ?”

“रामायण, महाभारत और मनु आदि स्मृतियों को पढ़ो। संशय होने पर पद्मपादाचार्य और पृथ्वीधराचार्य से पूछो। पद्मपादाचार्य द्वारका में रहकर देश के पश्चिम भाग में संचार करेंगे। पृथ्वीधराचार्य यहाँ न रहने पर भी आते रहेंगे। अच्छी तरह अध्ययन करो।”

“स्मृतियों का अध्ययन करता रहा हूँ। परन्तु कुछ प्रसंगों का निर्णय करने में कष्ट महसूस होता है।”

“कुछ प्रसंगों में ऐसा होता है। इस समय भी ऐसे प्रसंग उपस्थित हैं। विशेष सन्दर्भों में विशेष समाधान भी बताने चाहिये। किन्तु समाधान बताने वाला वह होना चाहिये जिसने गंभीरता से शास्त्रों का अध्ययन किया हो। वह क्रूरता से रहित तथा धर्मकाम भी होना चाहिये। सबको प्रेम और समबुद्धि से देखने वाला होना चाहिये। देवल!, इन सब बातों को ध्यान में रखकर आगे बढ़ो। तुम्हारा कल्याण हो।”

यज्ञेश्वर दीक्षित के आनन्द की सीमा नहीं रही। उन्होंने अपने पौत्र को गले से लगा लिया। और बोले, “देवल! आज तुम्हें भगवान् का आशीर्वाद मिल गया है।” उस वृद्ध के स्मृतिपटल पर पुरानी यादें उभर आयीं और नेत्रों में जल भर आया।



अध्याय चौदह द्वारका से बदरीनाथ

तीन दिशाओं में धर्मपीठ स्थापित हो चुके थे। अब बचा था बदरीनाथ; वहाँ जाने के लिये तोटक और पृथ्वीधर के साथ शंकर ने फिर यात्रा प्रारंभ की। उनका मार्ग मरुभूमियों, जंगलों और पर्वतों से होकर गुजरता था। जहाँ-तहाँ मन्दिरों और धर्मशालाओं को छोड़कर उनके ठहरने के स्थान थे गुफाएँ और जीर्ण हुये मण्डप। जब गाँव दूर होते थे तो पिछले गाँव में प्राप्त सूखी रोटियाँ ही उनका आहार होती थीं। ये तीसरी बार था कि शंकर दक्षिण के सेतु से हिमाचल तक भ्रमण कर रहे थे। भगवान् को यह सब किसलिये करना पड़ा? उनको इतना श्रम क्यों करना पड़ा? धर्म की रक्षा के लिये। अगर हम धर्म का पालन करते रहे होते तो उनको यह कष्ट न उठाना पड़ता। धर्म का उल्लंघन करके हमने कितना बड़ा महापाप किया है। धिक्कार है हमारी कामनाओं पर हमारे तमोगुण पर, हमारी संकुचित दृष्टि पर! हममें यह जानने का भी सामर्थ्य नहीं रहा कि यह समझ सकें कि हम धर्म का उल्लंघन कर रहे हैं।”

एक दिन तोटक शंकर जी के वस्त्रों को धोने के लिये ले जा रहे थे। कपड़ों पर खून के धब्बे देखकर वे घबरा गये। उनको साफ करके सूखने के लिये छोड़कर वे पृथ्वीधर को इसकी सूचना देने के लिये गये। दोनों ने निश्चय किया कि शंकर जी को कुछ दिन के विश्राम की आवश्यकता है। तोटक ने कुछ औषधियाँ दीं परन्तु कुछ अंतर नहीं पड़ा। गुरु जी के परीक्षण से उन्हें मालूम हुआ कि वात की वृद्धि के कारण अपान वायु का अनुलोम न होने से मल बन्द हो गया था और गुरु जी को भगन्दर हो गया था। औषधी के लिये आवश्यक घृत जंगल में तैयार करना संभव नहीं था इसीलिये गाँव जाना पड़ा। जो गाँव निकट मिला वहीं चिकित्सा के लिये रुक गये और आगे की यात्रा स्थगित कर दी गयी। औषधियाँ इकट्ठी करने में काफी समय लग गया। तब तक शंकर वेदना सहन करते हुये बिस्तर पर ही रहे। मूल औषधियाँ

आ जाने पर भी दवा बनाने के लिये आवश्यक सुविधाएँ नहीं थीं। फिर भी, गाँव वालों की सहायता से कुछ समय में दवा तैयार कर ली गयी। तोटक ने सूत के एक धागे को औषधी के रस में भिगोया और गुदाद्वार के घावों में उसे लगाकर दबाया। फिर गुरु जी को लिटाया गया। कुछ दवाएँ पिलायी गयीं। प्रायः एक महीने की चिकित्सा के बाद शंकर पूरी तरह स्वस्थ हो गये। दोनों शिष्यों ने चैन की साँस ली।

पृथ्वीधर ने कहा, “मुझे लगता है कि किसी ने अभिचार कर्म किया है जो गुरु जी पर यह रोग आया।”

“नहीं पृथ्वीधर जी! एक मूर्ख ब्राह्मण का श्राप जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का कुछ भी न बिगाड़ सका उसी प्रकार परमेश्वर रूपी गुरु का कोई अभिचार क्रिया कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

“तब यह प्रारब्ध है क्या?”

“भगवान् के लिये प्रारब्ध का क्या अर्थ है?”

“तब क्या कारण है?”

“इस शरीर के द्वारा किये गये अभी तक के कर्म। कर्म भी क्षेत्र का है, फल भी क्षेत्र का है।”

“कौन सा कर्म?”

“संचार। इस समय गुरु जी लगभग 31 वर्ष के हैं। आठ साल की उम्र में ही उन्होंने घर छोड़ दिया था। इसका अर्थ यह है कि वे 23 वर्षों से निरन्तर संचार कर रहे हैं। निरन्तर वाक् का श्रम कर रहे हैं। ये दोनों ही वातवृद्धि के कारण हैं। कारण कोई भी हो वे स्वस्थ तो हो गये हैं न!”

यात्रा फिर से प्रारंभ हुयी। मार्ग में तोटक एक भी दिन गुरु जी को घृत देना नहीं भूले। आखिरकार यात्रा समाप्त हुयी। तीनों बदरीनाथ पहुँचे। ब्रह्मदत्त जी के नेतृत्व में उत्तराम्नायपीठ की स्थापना हुयी। तोटकाचार्य जी वहाँ के जगद्गुरु बने। शंकर जी द्वारा केरल से भेजे गये युवा ब्राह्मण अपनी पत्नियों के साथ बदरीनाथ आकर मन्दिर का दायित्व सम्भाल चुके थे। उन्होंने आसपास के गाँवों के ब्रह्मचारियों के लिये वेदाध्ययन का कार्य भी आरंभ कर दिया था। गाँव में नूतन उत्साह का संचार हो गया था।

पिछली बार की तरह इस बार भी शंकर का निवास व्यासगुफा में ही था। एक बार अनध्याय के दिन वे वहाँ अकेले ही बैठे थे। सायंकाल का समय था। तभी एक वृद्ध महात्मा ने गुफा में प्रवेश किया। उन्होंने काषाय वस्त्र एवं रुद्राक्ष की माला पहन रखी थी। अस्त होते सूर्य के प्रकाश में उनका ताम्रकमण्डल चमक रहा था। शान्त नेत्र थे। शंकर तुरन्त उठे और साष्टांग नमस्कार करके उन्हें आसन पर बिठाया और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। शंकर को बैठने के लिये कहकर वह बोले, “शंकर! मैंने सुना है कि आपके प्रस्थानत्रयीभाष्य को सब विद्वानों ने बहुत पसन्द किया है। आपसे मिलने के लिये आया हूँ। मुझे पता पड़ा है कि आपने माण्डूक्य उपनिषद् पर मेरी कारिकाओं पर भी भाष्य लिखा है।”

यह बात सुनते ही शंकर समझ गये कि उनके सामने जो विद्यमान हैं वह और कोई नहीं स्वयं गौडपादाचार्य ही हैं। शंकर ने तुरन्त उनके चरण पकड़ लिये और बहुत देर तक उनको नहीं छोड़ा। उनके उठाने पर ही शंकर उठे और बोले, “भगवन्! न जाने किस जन्म का पुण्य है जो मुझे आपके दर्शन हुये। यह आपकी कारिकाओं पर लिखा गया भाष्य है। कृपया इसे स्पर्श करके मुझे दीजिये,” यह कहकर ताडपत्र का ग्रन्थ उनके सामने रख दिया। उसे छूकर उन्होंने रख दिया और बोले, “शंकर’ मैं अधिक समय नहीं रुक सकता। इतना बताओ, आत्मा और जगत् के लिये श्रुति ने मिट्टी और घड़े का दृष्टान्त दिया है। मैंने रज्जु और सर्प का दृष्टान्त दिया है। इन दोनों दृष्टान्तों में तुमने समन्वय कैसे किया बताओ।”

“भगवन्! व्यवहारयोग्य जो घड़ा है उसने मिट्टी को नहीं छोड़ा है किन्तु मिट्टी में घड़े का व्यवहार नहीं है। इसे संक्षेप में अगर कहना हो तो घड़े में मिट्टी है, मिट्टी में घड़ा नहीं है। उसी प्रकार दार्ष्टान्त में, जगत् में ब्रह्म है, परन्तु ब्रह्म में जगत् नहीं है। और आत्मा ही ब्रह्म है। अतः, जगत् में आत्मा है, आत्मा में जगत् नहीं है। इस वाक्य का पूर्वार्ध ही सर्वात्मभाव है। और उत्तरार्धवाक्य का जो अर्थ है उसका सुषुप्ति में साक्षात् अनुभव होता है। फिर भी जाग्रत् अवस्था में जिज्ञासु को सन्देह होता है कि, “जगत् दिख रहा है न? तो फिर जगत् नहीं है यह कहने का क्या अर्थ है?” इसके परिहार के लिये आपने रज्जु-सर्प का दृष्टान्त दिया है। उसका अन्वय इस प्रकार है:

‘जगत् दिख रहा है’, यह कहने पर यदि यह समझा जाये कि जगत् द्रष्टा की आत्मा से भिन्न है तो यह गलत है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। ‘दिख रहा है न’, यदि ऐसा कहा जाये तो दिखने वाला जगत् रज्जु से भिन्न देखे गये सर्प के समान मिथ्या है, इसका अर्थ यह है कि रज्जु के मिथ्याज्ञान के कारण सर्पदर्शन के समान आत्मा के मिथ्याज्ञान से जगत् दिखता है। जो दिख रहा है वह तो सत्य ही है इसलिये, भिन्न न होने पर भी भिन्न सा दिखता है, यह सम्यग्ज्ञान है। यह मिथ्याज्ञान नहीं है। कैसे? रज्जु ही सर्प के समान दिखायी देती है। सर्प के समान दिखने पर भी वह रज्जु ही है— यह सम्यग्ज्ञान है। उसी प्रकार, जगत् अपने से भिन्न के समान दिखने पर भी भिन्न नहीं है आत्मा ही है।”

“इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर जगत् के द्वारा ब्रह्म का निश्चय करते समय मिट्टी और घड़े के दृष्टान्त का अन्वय होता है। और, ‘वह ब्रह्म मैं ही हूँ’ यह निश्चय करते समय अपने में किये जगत् के अध्यास को दूर करके, एकत्व समझाते समय आपने जो रज्जु-सर्प का दृष्टान्त दिया है उसका अन्वय होता है।”

यह विवरण सुनकर गौडपादाचार्य बहुत प्रसन्न हुये। अन्त में वे बोले, “शंकर! तुमने मेरा भाव बिल्कुल ठीक तरह ग्रहण किया है। अब तुम्हें जो काम करने थे उनमें जो एक काम बाकी रह गया है उसे सुनो! कश्मीर में एक प्रसिद्ध सर्वज्ञपीठ है। वह शारदा देवी के मन्दिर में है। वहाँ के अभिमानी विद्वान् पीठ पर आरोहण करने वाले के मार्ग में अपने वादों से विघ्न डालते हैं। वह कार्य आपके द्वारा किया जाना उचित है। यदि आप उस पर आरूढ़ हो जाते हैं तो आगे चलकर आपके भाष्य का विरोध करने का मूर्खसाहस कोई नहीं करेगा। तुम वहाँ जाओ। कई शताब्दियों से उस पर आरूढ़ होने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया है। उन वादियों को पराजित करके धर्मसंस्थापन के कार्य में यशस्वी हो”, यह आशीर्वाद देकर वह चले गये।

• • •

अध्याय पन्द्रह बदरीनाथ से कश्मीर

गौडपादाचार्य के जाने के बहुत देर बाद तक शंकर उनके अन्तिम वाक्यों के विषय में सोचते रहे। बाद में गुफा से बाहर आकर पृथ्वीधर और तोटक को सारी बात बतायी। पृथ्वीधर ने गौडपाद जी के वचनों का अनुमोदन करते हुये कहा, “गुरु जी! आपके भाष्यों में निकालने योग्य एक भी दोष नहीं है, और योजनीय एक भी गुण नहीं है। फिर भी संभव है कि कालान्तर से उनकी समग्रता को ग्रहण करने में असमर्थ लोग एकदेशीय अर्थ ग्रहण करके सिद्धान्तदूषण करें। अतः, यदि आप सर्वज्ञपीठ पर आरूढ़ होते हैं तो कोई भी हो, ऐसा साहस करने से डरेगा। इसलिये आपको कश्मीर अवश्य जाना चाहिये।”

तीनों ने कश्मीर की ओर प्रस्थान किया। मन्दिर पहुँचकर माता जी के दर्शन किये। पृथ्वीधर ने सर्वज्ञपीठ के विषय में पूछा तो अध्यक्ष ने एक ओर स्थित एक बहुत बड़ा दरवाजा खोलकर दिखाया। रत्नजटित सिंहासन को देखते ही तीनों की आँखें चौंधिया गयीं। अध्यक्ष महोदय ने विस्तार से उसका इतिहास बताया।

पृथ्वीधर ने पूछा, “इस पर आरूढ़ होने के लिये कोई आये हैं। वे आगे बढ़ने के लिये क्या करें?”

“मैंने तो सोचा कि आप भी औरों की तरह केवल पीठ देखने के लिये आये हैं। आपकी बातों से मुझे हर्ष और आश्चर्य दोनों हो रहे हैं। मेरे जीवनकाल में ऐसा प्रसंग होना मेरे लिये गर्व की बात है। लेकिन इसकी व्यवस्था एकदम नहीं हो सकती। पण्डितों को सूचना देनी होगी। वे कश्मीर के अलग-अलग प्रदेशों से आयेंगे। इसके लिये कम से कम पन्द्रह दिन चाहियें। जो आरूढ़ होना चाहते हैं उनका परिचय लिखकर दीजिये। मैं सब विद्वानों को पत्र भेजता हूँ।”

पृथ्वीधर ने जो परिचयपत्र लिखकर दिया वह इस प्रकार था,